

बोधिचर्यावतार

प्रथम परिच्छेद

बोधिचित्तानुशंसा

सुगतों को, उनके पुत्रों-बोधिसत्त्वों के साथ, उनके (कायों में उत्कृष्टतम) काय धर्म के साथ, तथा वंदनार्ह सबको, सादर प्रणाम कर सुगतों के आत्म (न कि शरीर) से उत्पन्न बोधिसत्त्वों के संवरावतार-आचरण-मार्ग का संक्षेप से आगमानुसार वर्णन करूँगा ॥1॥

यहाँ न तो कोई अपूर्व बात कहने के लिये है और न मेरी रचना में ही निपुणता है । इसलिए मैं सोचू भी तो कैसे सोचूँ कि इसमें दूसरों के लिए कुछ है । हाँ, मेरे मन को वासित (=भावित) करने के लिये यह (अवश्य) है ॥2॥

पुण्यभावना के निमित्त मेरी श्रद्धा के प्रवाह में तो इससे बाढ़ ही आ जाती है । फिर दूसरे किसी समानधातुक (समानशीलव्यसन) की दृष्टि भी इस पर पड़ सकती है : जो भी हो यह (कृति) व्यर्थ नहीं है ॥3॥

पुरषार्थों की साधिका, अत्यन्त दुर्लभ यह क्षणसंपत्ति मिली है । यदि इसमें हितचिन्तन नहीं किया गया तो इसका फिर मिलना कहाँ ? ॥4॥

रात के बादलों के घने अंधेरे में जैसे बिजली क्षणभर अपनी चमक दिखा जाती है, वैसे ही बुद्धानुभाव से लोगों की बुद्धि कभी क्षणभर के लिये पुण्य की ओर होती है ॥5॥

इसलिये पुण्य सदैव दुर्बल रहता है पर पाप का बल-सदैव महाभीषण बना रहता है। उस (पाप) को कोई दूसरा पुण्य न जीत पाता, यदि बोधिचित्त नामक (पुण्य) न होता ॥6॥

मुनीन्द्रों ने बहुत कल्पों तक चिंतन करते-करते एक मात्र इस (बोधिचित्त) को ही कल्याण माना है। इससे सहज ही समृद्ध हुआ सुख अपार जन-राशि को उत्प्लावित कर देता है ॥7॥

संसार के शत-शत दुःखों के तरने, प्राणिपड़ा के हरने, तथा अनेक शत-शत सुख भोगने की कामना करे वालों को कभी भी बोधिचित्त का परित्याग न करना चाहिये ॥8॥

संसार के कारागार में बंधा हुआ बेचारा (मनुष्य) बोधिचित्त के उत्पन्न होने के क्षण में ही सुगतसुत्त-बोधिसत्त्व कहलाने लगता है और देवताओं तथा मनुष्यों के लिये पूजनीय हो जाता है ॥9॥

बोधिचित्त नामक अत्यन्त वेधनीय रसजात (=रसायन) को दृढता से ग्रहण करो, जो इस अपवित्र (शरीर रूपी) प्रतीमा को लेकर बुद्धरत्न रूपी अमूल्य प्रतिमा बना देता है ॥10॥

गति के-सुगति दुर्गति रूपी कर्म-गति के-नगरों के प्रवासियों अप्रमेय बुद्धिशाली, संसार के अनन्य सार्थवाहों-बुद्धों के द्वारा परखे गये हुमूल्य बोधिचित्तरत्न को दृढता से ग्रहण करो ॥11॥

सभी दूसरे पुण्य (वृक्ष) फल देकर केले के समान क्षीण हो जाते हैं पर बोधिचित्त वृक्ष सदा फलते रहते पर भी क्षीण नहीं होता प्रत्युत फलता-फूलता ही रहता है ॥12॥

उस बोधिचित्त का मूढ प्राणी क्यों नहीं सहारा लेते, जिसका कि सहारा लेकर अत्यन्त दारुण पाप करके भी (मनुष्य) क्षण भर में उसी तरह पार हो जाता है, जिस तरह कि वीर पुरुष के सहारे लोग महाभयों से पार होते हैं ॥13॥

जो प्रलय काल की अग्नि के समान क्षण भर में महापातकों को जला डालता है, जिसकी अमित अनुशंसाएं मैत्रेयनाथ ने सुधन से कही हैं (उस बोधिचित्त का मूढ प्राणी क्यों नहीं सहारा लेते) ॥14॥

संक्षेप से उस बोधिचित्त के दो भेद हैं—बोधिप्रणिधान चित्त और बोधिप्रस्थान चित्त ॥15॥

जाने की इच्छावाले और जाते हुए (व्यक्तियों) में जैसे अन्तर होता है, वैसा ही अन्तर पंडितों को इनमें क्रम से समझ लेना चाहिये ॥16॥

बोधिप्रणिधान चित्त का भी संसार में महान् फल होता है पर बोधिप्रस्थान चित्त के समान इसमें पुण्य की निरन्तरता नहीं रहती ॥17॥

जब से लेकर अनन्त सत्त्वधातु (=प्राणिलोक) की मुक्ति के लिये (मनुष्य) अनिवर्तनीय चित्त से उस (बोधि-)चित्त को ग्रहण करता है, तब से लेकर सोते (जागते), (सावधान) प्रमत्त (सभी अवस्थाओं में) बार-बार आकाश के समान पुण्य का निरन्तर प्रवाह बहता रहता है ॥19॥

तथागत ने स्वयं ही सुबाहुपृच्छा (नामक सूत्र) में हीनयान के श्रद्धालु लोगों को लक्ष्य करके, इस (बोधिचित्त द्वारा पुण्य की निरन्तरता) को युक्तिपूर्वक कहा है । [उस युक्ति का यहाँ अगले दो श्लोकों में वर्णन है ।] ॥20॥

कुछ प्राणियों की शिरःपीड़ा दूर करने की बात सोचनेवाले हितचिंतक को अप्रमेय पुण्य मिलता है । ॥21॥

फिर प्रत्येक प्राणी की प्रमाणरहित पीड़ाओं के हरने और प्रत्येक प्राणी को अपार गुणवान् बनाने की इच्छावाले (बोधिचित्त) के पुण्य का कहना ही क्या ? ॥22॥

माता अथवा पिता, देवताओं, ऋषियों अथवा ब्राह्मणों में से किसकी इस प्रकार की हितभावना होगी ॥23॥

यह मनोरथ स्वप्न तक में अपने लिये भी उन सत्त्वों के (मन में) उत्पन्न न हुआ फिर दूसरों के लिये उसका होना सम्भव कैसे ? ॥24॥

यह कैसा अपूर्व सत्त्वरत्न जनमा है ! जिसका परार्थ चिन्तन (अन्य सत्त्वों में) स्वार्थ के लिये भी उत्पन्न नहीं होता ॥25॥

जो जगत् के आनन्द का बीज है और जगत् के दुःखों की औषध है उस चित्तरत्न का जो पुण्य है, उसे कैसे मापा जाए ? ॥26॥

कोरी हितैषिता भी बुद्धपूजा से श्रेष्ठ होती है, फिर सब प्राणियों के लिये सब सुखों के प्रयत्न का कहना ही क्या ? ॥27॥

दुःख से निकलने की इच्छा से (प्राणी) दुःख की ओर ही दौड़ते हैं । मोहवश (वे) सुखों की इच्छा से ही शत्रु के समान अपने सुखों की हत्या कर डालते हैं ॥28॥

जो, सुख के दीन उन अनेक प्रकार से पीड़ितों को सब सुखों से तृप्त करता है, उनकी सब पीड़ाओं को दूर करता है ॥29॥

उनके अज्ञान का नाश करता है; भला उसके समान साधु कहाँ होगा, उसके समान मित्र कहाँ होगा, अथवा उसके समान पुण्य कहाँ होगा ॥30॥

जो उपकार करने पर प्रत्युपकार करता है, उसकी भी प्रशंसा होती है । फिर अकारण मित्र बोधिसत्त्व के विषय में कहना ही क्या ? ॥31॥

कुछ लोगों को, किसी-किसी क्षण, तिरस्कार के साथ, रूखा-सूखा भोजन, जिससे आधा ही दिन बिताया जा सकता है—देने से

सत्रदायक (सदावर्त खोलने वाले) को पुण्यात्मा मान कर लोग पूजते हैं ॥32॥

आकाश में जीवधारियों की स्थितिकाल तक अक्षय, संपूर्ण मनोरथों के परिपूर्ण करनेवाले, असंख्यप्राणिसहगत, अनन्त काल तक के दान के दाता के के विषय में कहना ही क्या ? ॥33॥

इस तरह के दानपति, बुद्धपुत्र के प्रति, जो अपने मन में पाप की बात सोचता है, उसे उतने कल्प तक नरक में रहना पड़ता है जितने क्षण तक कि उसके हृदय में पाप का विचार उठता रहता है ॥34॥

पर जिसके मन में श्रद्धा होती है, उसे और भी अधिक फल होता है। बलवत्तर पाप के कारण ही बुद्धपुत्रों के प्रति कोई कुकृत कर बैठता है। उनके प्रति सुकृत सहज ही होता है ॥35॥

जिनमें वह श्रेष्ठ बोधिचित्तरत्न उत्पन्न हुआ है, उनके शरीरों को प्रणाम करता हूँ। जिनके प्रति किया गया अपकार भी सुख देता है, उन सुख के आकरों की शरण जाता हूँ ॥36॥

द्वितीय परिच्छेद पापदेशना

उस बोधिचित्तरत्न के ग्रहण करने के लिए बुद्धों की, निर्मल सद्धर्मरत्न की और गुणसागर बुद्धपुत्रों की मैं पूजा करता हूँ ॥1॥

लोक में जितने पुष्प हैं, फल हैं और जितनी ओषधियाँ हैं तथा जितने स्वच्छ और मनोरम रत्न एवं जल हैं ॥2॥

तथा अन्य जो रत्नमय पर्वत और एकान्तरमणीय वनखंड हैं, तथा जो सुन्दर पुष्पाभूषणों से उज्वल लताएँ और सत् फलों से झुकी शाखाओं वाले वृक्ष हैं ॥3॥

देवताओं के लोकों में तथा अन्यत्र जो गन्ध-धूप हैं, कल्पवृक्ष और रत्नमयवृक्ष हैं, तथा कमलों से भूषित, हंसों के कूजन से अत्यन्त मनोहर सरोवर हैं ॥4॥

अपने आप उत्पन्न जो धान्य हैं अथवा आकाशधातु की व्याप्ति पयन्त उपलभ्य जो अन्यान्य पूजनीय जनोचित पदार्थ हैं । ये सब यदि परपरिगृहीत नहीं है तो— ॥5॥

इनका बुद्धि से ग्रहण कर, सपुत्र मुनिवरों के प्रति उत्सर्ग करता हूँ । हे श्रेष्ठ दक्षिणा के पात्र महाकृपालुओं ! मुझ पर अनुग्रह करके मेरा वह (सब उपहार) स्वीकार करो ॥6॥

अपुण्यवान् हूँ, महा दरिद्र हूँ, पूजा के लिए मेरे पास और कुछ नहीं है । अतएव हे निःस्वार्थचित्त प्रभुओं मेरे (हित के) अर्थ इसे अपनी शक्ति से स्वीकार करो ॥7॥

बुद्धों और उनके आत्मजों के प्रति मैं सब प्रकार से पूर्ण आत्मसमर्पण करता हूँ। हे अग्रसत्त्वों ! मुझे स्वीकार करो। मैं भक्ति से तुम्हारा दास हूँ ॥8॥

तुम्हारे स्वकार करने से संसार में भयरहित हो मैं प्राणि-हित करूँगा। पहले के पापों को छोड़ दूँगा तथा दूसरा पाप नहीं करूँगा ॥9॥

सुगन्ध से पूर्ण उन स्नानागारों में, जो रत्नों से देदीप्यमान स्तंभों के कारण मनोरम हैं, जिनके वितान (चंदवे) मुक्ताजटित एवं भास्वर हैं, जिनके कुट्टिम (फ़र्शी) स्वच्छ तथा श्वेत स्फटिक के हैं ॥10॥

मैं तथागतों और उनके आत्मजों को, सुगन्धित जल और पुष्पों से पूर्ण महारत्नों के अनेकों कलशों से गीत वाद्यपूर्वक स्नान कराता हूँ ॥11॥

धूपे हुए निर्मल अनुपम वस्त्रों से उनके शरीरों को पोछता हूँ। फिर अच्छी तरह रंगे, अच्छी तरह धूपे हुए, उत्तम चीवर उनकी भेंट करता हूँ ॥12॥

दिव्य, कोमल, चिकने, और विचित्र शोभावाले वस्त्रों और आभूषणों से समन्तभद्र, अजित, मंजुघोष तथा लोकेश्वर आदि (बोधिसत्त्वों) को भी विभूषित करता हूँ ॥13॥

समूचे त्रिसाहस्र लोकधातु में सुगन्ध को फैलाने वाले उत्तम गन्धद्रव्यों से सब मुनिवरों के शरीरों को अनुलिप्त करता हूँ, जो अच्छी तरह तपाए, माँजे और धोए गए सुवर्ण की प्रभा के समान उज्वल हैं ॥14॥

मान्दारव, उत्पल तथा मल्लिका आदि सब सुगन्धित मनोहर पुष्पों तथा सुन्दर गूँथी हुई मालाओं द्वारा परम पूजनीय मुनिवरों की पूजा करता हूँ ॥15॥

उन्हें धूप के मेघों से धूप देता हूँ जो अपने फैलने वाले निर्मल गन्ध से मन को विश्राम देते हैं तथा विविध प्रकार के भोज्य, खाद्य और पेयों से उन्हें नैवेद्य अर्पित करता हूँ ॥16॥

सुवर्ण कमलों पर पंक्ति में सजे रत्न-प्रदीप समर्पित करता हूँ और सुगन्ध से लिप्त कुट्टिमों पर मनोहर पुष्पसमूह बिखेरता हूँ ॥17॥

लटकते हुए मुक्तामणियों के हारों से शोभित, चमकते हुए, दिशामुखों को विभूषित करनेवाले, स्तुति और गीतों से रमणीय उन विमान मेघों को मैत्रीमय (बुद्धों और बोधिसत्त्वों की) भेंट करता हूँ ॥18॥

सुवर्णखचित-दंड रूपमनोहर, मुक्ताजटित, अतिरमणीय, तने हुए, रत्नमय छत्र महामुनियों के ऊपर धारण कराता हूँ ॥19॥

इसके बाद मनोहर पूजा-मेघ तथा सब प्राणियों को आनंदित करने वाले नृत्य-गीत-वादित्रमेघ प्रवृत्त हों ॥20॥

संपूर्ण सद्धर्म-रत्नों, स्तूपों और प्रतिमाओं पर निरन्तर पुष्प रत्नादि की वर्षा होती रहे ॥21॥

मंजुघोष प्रभृति बोधिसत्त्व जिस तरह बुद्धों की पूजा करते हैं, उसी तरह प्रभु तथागतों की पुत्रों सहित मैं पूजा करता हूँ ॥22॥

स्वरप्रभेदों के समुद्र रूप स्तोत्रों से मैं उन गुण-समुद्रों की स्तुति करता हूँ । यहाँ स्तुति-संगीतियों के मेघ अनुरूप भाव से उमड़ पड़ें ॥23॥

त्रैकालिक सब बुद्धों को, उत्तम धर्म और संघ सहित, सब बुद्धक्षेत्रों के परमाणुओं की संख्या जितने, प्रमाणों से प्रणाम करता हूँ ॥24॥

सब स्तूपों और बोधिसत्त्व-मंदिरों की वंदना करता हूँ ।
उपाध्यायों और अभिवादन के योग्य तपस्वियों को नमस्कार करता
हूँ ॥25॥

जितना काल बोधिसत्त्व की प्राप्ति में लगे उतने काल तक के
लिए मैं बुद्ध की शरण जाता हूँ, धर्म की शरण जाता हूँ और
बोधिसत्त्व-संघ की शरण जाता हूँ ॥26॥

सब दिशाओं में व्यापक होकर स्थित महाकारुणिक संबुद्धों और
बोधिसत्त्वों से अंजलि बाँध निवेदन करता हूँ ॥27॥

आदि रहित संसार में अथवा इसी जन्म में मुझ पशु ने जो पाप
किए और कराए हैं ॥28॥

और मोहवश जो आत्मघात का अनुमोदन किया है, उस
अपराध के पश्चात्ताप से खिन्न होकर मैं देशना करता हूँ ॥29॥

त्रिरत्न के प्रति, माता-पिता के प्रति तथा अन्य गुरुजनों के प्रति
मोहवश काय-वाग्-मन से जो अपकार हो गए हैं ॥30॥

(अथवा जानबूझ कर) अनेक दोषों से दूषित मुझ पातकी ने जो
दारुण पाप किए हैं, उन सबकी देशना करता हूँ ॥31॥

कैसे इस (पातक) से निकलूँ ! नायकों, मैं सदा व्याकुल रहता
हूँ । पापराशि के क्षीण हुए बिना झटपट मेरी मृत्यु न हो ॥32॥

शीघ्र बचाओ ! कैसे इस (पाप) से मेरा उद्धार होगा । बिना
पाप क्षीण हुए मुझे शीघ्र मरना न पड़े ॥33॥

एक मृत्यु विश्वासघाती है, यह कभी नहीं देखती कि क्या
किया गया है और क्या नहीं । इस अकस्मात् गिरनेवाली गाज के
रहते स्वस्थ या अस्वस्थ होने का भरोसा ही क्या ? ॥34॥

दोनों प्रियों और अप्रियों के कारण मैंने अनेक पाप किए हैं ।
सबको यहीं छोड़ जाना होगा । ऐसा कभी सोचा तक नहीं ॥35॥

अप्रिय न रहेंगे, मेरा प्रिय न रहेगा, मैं न रहूँगा तथा (यह) सब
(भी) न रहेगा ॥36॥

जिस-जिसका अनुभव होता है उस-उस वस्तु का स्मरण होता
है । अतीत स्वप्न के अनुभव के समान फिर नहीं दिखाई पड़ता ॥37॥

यहीं रहते-रहते अनेक प्रिय और अप्रिय चले गए पर उनके
निमित्त जो पाप किया गया वह घोर रूप से आगे खड़ा है ॥38॥

मैंने नहीं सोचा कि मैं इस तरह क्षण भर का मेहमान हूँ । रा,
द्वेष और मोहवश मैंने अनेक प्रकार के पाप किए ॥39॥

दिनरात निरन्तर आयु का व्यय बढ़ता जाता है पर आय कहीं
से नहीं होती । फिर भला मैं क्यों न मरूँगा ॥40॥

यहाँ खाट पर पड़े रह कर भी, बन्धुओं के बीच रहते हुए भी,
(मरण काल में) मुझे अकेले ही मर्म-छेद आदि पीड़ाएँ सहनी
होंगी— ॥41॥

यमदूतों द्वारा पकड़े जाने पर कहाँ बन्धु ! कहाँ मित्र ! उस समय
एकमात्र शरण पुण्य है और उसका मैंने आचरण नहीं किया ॥42॥

क्षणभंगुर जीवन में आसक्ति के कारण, इस भय को न जानते
हुए, हे प्रभुओ ! मुझ प्रमत्त ने बहुत पाप कमाए ॥43॥

आज अंगच्छेद के लिए ले जाया जाने वाला व्यक्ति भी (डर के
मारे) सूख जाता है, उसे प्यास लगती है और उस दीनदृष्टि को जगत्
कुछ और ही दिखाई पड़ता है ॥44॥

फिर भयंकराकृति यमदूतों से पकड़े जाने पर, महाभय रूपी
ज्वर से ग्रस्त, मलमूत्र में लतपत ॥45॥

‘कौन साधु इस महाभय में मुझे शरण देगा’ (यह सोचते), कातर निगाहों से चारों दिशाओं में शरण खोजता है ॥46॥

(पर) दिशाओं को शरणरहित देख, मूर्छित हो जाने पर, उस समय उस महाभय के स्थान में मैं क्या करूँगा ? ॥47॥

आज ही जगत् की रक्षा में उद्यत, सर्वभयहारी, महाबली, जगन्नाथ बुद्धों की शरण जाता हूँ ॥48॥

उनके द्वारा साक्षात्कार किए गए धर्म की, जो संसार के भय का नाशक है, तथा बोधिसत्त्वसंघ की भक्ति से शरण जाता हूँ ॥49॥

भय से व्याकुल हो मैं समंतभद्र को आत्मदान देता हूँ, फिर स्वयं मंजुघोष को आत्मसमर्पण करता हूँ ॥50॥

उन करुणा से व्याकुल हो दौड़ पड़ने वाले अवलोकितेश्वर को मैं भयभीत होकर कातर स्वर से पुकारता हूँ, वे मुझ पापी की रक्षा करें ॥51॥

मैं शरण खोजता हुआ, अपने अन्तर से, आर्य आकाशगर्भ तथा क्षितिगर्भ एवं सब महाकारुणिकों को पुकारता हूँ ॥52॥

जिन्हें देखते ही यमदूत आदि दुष्ट डर कर चारों दिशाओं में भाग जाते हैं, उन वज्री को नमस्कार करता हूँ ॥53॥

तुम्हारी बात न मान कर, अब भय देख कर डरा हुआ मैं तुम्हारी शरण जाता हूँ, शत्रु भय दूर करो ॥54॥

क्षणिक व्याधि के भय से भी कोई वैद्य का वचन नहीं टालता, फिर चार अधिक चार सौ व्याधियों से ग्रस्त (जन) का कहना ही क्या ? ॥55॥

एक ही व्याधि से जंबूद्वीप के सब लोग मरते (रहते) हैं, जिनकी चिकित्सा सब दिशाओं में ढूँढे नहीं मिलती ॥56॥

ऐसा होने पर भी, सब व्याधियों के दूर करने वाले, सर्वज्ञ वैद्य की बात का मैं उल्लंघन करता हूँ। मुझ महामूढ को धिक्कार ! ॥57॥

छोटे-मोटे प्रपातों से मैं अत्यन्त सावधान रहता हूँ, फिर सहस्र योजन गहरे प्रपात से, जहाँ चिरकाल रहना पड़े कहना ही क्या ? ॥58॥

आज ही तो मृत्यु आ नहीं रही ! मुझे सुख से बैठना ठीक नहीं। अवश्य ही वह समय आएगा जब मैं नहीं रहूँगा ॥59॥

किसने मुझे अभय दे रखा है ? कैसे निस्तार होगा ? अवश्य (एक दिन मैं यहाँ) न हूँगा। फिर भी मेरा मन क्यों सुस्थिर है ? ॥60॥

पूर्वानुभूत (वस्तुओं) के नाश हो जाने पर मेरे पास सार बचा ही क्या कि जिनमें आसक्त हो मैंने गुरुवचन न माने ॥61॥

यह जीवलोक, बन्धु तथा परिचित, (सभी को) छोड़ कहीं अकेला चला जाऊँगा, फिर सब प्रियाप्रियों से मेरा (लेना-देना) क्या ? ॥62॥

रात-दिन सदा मुझे यही चिन्ता करनी चाहिए कि अपुण्य से दुःख निश्चित है और मैं उससे कैसे पार होऊँ ? ॥63॥

जो भी प्रकृतिसावद्य और प्रज्ञप्तिसावद्य पाप मुझ अबोध मूढ के कमाए ॥64॥

उन सबकी देशना, दुःख से घबराकर मैं, प्रभुओं के सामने हाथ जोड़, बारंबार प्रणाम कर, करता हूँ ॥65॥

हे नायको ! अपराध को अपराध के रूप में ग्रहण करो। हे प्रभुओ, मैं यह पाप फिर न करूँगा ॥66॥

तृतीय परिच्छेद बोधिचित्त-परिग्रह

दुर्गतियों के दुःख से विश्राम और सब प्राणियों द्वारा किए गए पुण्य का अनुमोदन प्रमोद से करता हूँ । दुःखित सुखी हों ॥1॥

शरीरधारियों की सांसारिक दुःखों से मुक्ति का अनुमोदन करता हूँ । तापियों की बोधिसत्त्वता और बुद्धता का अनुमोदन करता हूँ ॥2॥

सब प्राणियों को सुख देनेवाले तथा सब प्राणियों का हित करने वाले बोधिसत्त्वों के चित्तोत्पाद समुद्रों का अनुमोदन करता हूँ ॥3॥

सब दशाओं में (विद्यमान) संबुद्धों से हाथ जोड़ प्रार्थना करता हूँ कि वे मोहवश दुःख-पतितों के लिए धर्मदीप जलाएँ ॥4॥

परिनिर्वाणाभिमुख बुद्धों से सांजलि याचना करता हूँ कि वे अनंत कल्पों तक ठहरें, ताकि जगत् में अंधेरा न हो ॥5॥

एवं यह सब करके मैंने जो पुण्यार्जन किया है, उससे सब प्राणियों का सर्वदुःखशमनकारी बनूँ ॥6॥

व्याधि दूर होने तक मैं रोगियों के लिए औषध बनूँ, वैद्य भी बनूँ और परिचारक भी बनूँ ॥7॥

अन्न-पान की वर्षा से क्षुधा और पिपासा की व्यथा मिटाऊँ तथा दुर्भिक्षान्तर कल्पों में पान भोजन बनूँ ॥8॥

दरिद्र प्राणियों के लिए मैं अक्षय निधि बनूँ और नाना प्रकार के उपकरणों से उनके आगे उपस्थित रहूँ ॥9॥

मैं अपने आत्मभाव (=शरीर), भोगों और त्रैकालिक सकल पुण्यों का अनासक्ति भाव से सब प्राणियों की अर्थसिद्धि के लिए उत्सर्ग करता हूँ ॥10॥

सर्वत्याग ही निर्वाण है और मेरा मन निर्वाणार्थी है। मुझे यदि सर्वत्याग करना है तो अच्छा है कि प्राणियों को दूँ ॥11॥

सब देहधारियों को जैसे सुख हो वैसे यह शरीर मैंने (निछावर) कर दिया है। वे अब चाहे इसकी हत्या करें, निन्दा करें अथवा इस पर धूल फेंके ॥12॥

मेरे शरीर से चाहे खेलें, हँसें और विलास करें। मझे इसकी क्या चिन्ता? मैंने शरीर उन्हें दे ही डाला है ॥13॥

जिन-जिन कार्यों से उन्हें सुख मिलता हो वे-वे कार्य (मेरे शरीर से) कराएँ। मेरे कारण कभी किसी का अनर्थ न हो ॥14॥

जिनका मन मेरे कारण क्रुद्ध या प्रसन्न हो उनके लिए वही सर्वार्थसिद्धि का कारण हो ॥15॥

जो मेरे निन्दक होंगे, और जो भी अपकारी होंगे तथा और भी जो उपहासकर्ता आदि होंगे, वे सब बोधिलाभी हों ॥16॥

मैं अनार्थों का नाथ, यात्रियों का सार्थवाह, तथा पारेच्छुकों की नौका, सेतु एवं बेड़ा बनूँ ॥17॥

दीपार्थियों का मैं दीप, शय्यार्थियों की मैं शय्या, (तथा) दासार्थियों का मैं दास होऊँ ॥18॥

प्राणियों के लिए मैं चिन्तामणि, भद्रघट, सिद्धविद्या, महौषधि, कल्पवृक्ष और कामधेनु होऊँ ॥19॥

जैसे पृथ्वी आदि महाभूत अनन्त आकाश पर्यन्त व्यापी अप्रमेय प्राणियों के नाना प्रकार से भोग्य होते हैं ॥20॥

वैसे ही आकाशव्यापी प्राणिलोक के लिए मैं तब तक नाना प्रकार से उपजीव्य (आश्रम) होऊँ, जब तक कि सब मोक्षलाभ न कर लें ॥21॥

जैसे अतीत के बुद्धों ने बोधिचित्त का ग्रहण किया, जैसे उन्होंने क्रम से बोधिसत्त्वों की शिक्षाओं का पालन किया ॥22॥

वैसे ही जगत्-कल्याण के लिए मैं बोधिचित्त उत्पन्न कर उन शिक्षाओं को वैसे ही क्रम से सीखूँगा ॥23॥

एवं श्रद्धा के साथ बुद्धिमान्, बोधिचित्त ग्रहण कर फिर पूर्व की पुष्टि के लिए यों चित्त हर्षित करें ॥24॥

आज मेरा जन्म सफल है, मनुष्यजन्म सुलाभवान् है । आज बुद्धकुल में मेरा जन्म हुआ है । अब मैं बुद्धपुत्र हूँ ॥25॥

अब मुझे अपने कुल के कर्तव्यपरायणों की भाँति कार्य करना है, जिससे इस निर्मल कुल पर कलंक न लगे ॥26॥

अन्धे को जैसे कूड़े के ढेरों से रत्न मिल जाए वैसे ही, यह बोधिचित्त किसी तरह मुझ में उदित हुआ है ॥27॥

जगत् की मृत्यु के नाश के लिए, यह रसायन है । जगत् की दरिद्रता दूर करने वाली, यह अक्षय निधि है ॥28॥

जगत् की व्याधि शान्त करने वाली, यह उत्तम ओषधि है । भवमार्ग में घूम-घूम कर थके जगत् का, यह विश्रामदायक वृक्ष है ॥29॥

सब यात्रियों के लिए, यह सर्वसाधारण सेतु है, जिससे दुर्गति (समुद्र) पार किया जाता है । जगत् के क्लेशताप को शान्त करनेवाला, यह उदित हुआ बोधिचित्त-चन्द्रमा है ॥30॥

जगत् के अज्ञानान्धकार का नाशक, यह महासूर्य है ।
सद्धर्मक्षीर के मन्थन से निकला हुआ यह नवनीत है ॥31॥

भवमार्ग के यात्री, सुखभोग के भूखे, प्राणिसमूह के लिए सकल
अतिथिजन तृप्तकारी, यह ब्रह्मभोज उपस्थित हुआ है ॥32॥

जगत् को बुद्धत्व और सुख के बीच (रहने के लिए) सब
तथागतों के सामने निमन्त्रित करता हूँ । सुर असुर आदि सभी इसका
अभिनन्दन करे ॥33॥

चतुर्थ परिच्छेद बोधिचित्ताप्रमाद

इस प्रकार बुद्धपुत्र को, दृढता से बोधिचित्त ग्रहण कर, सावधान हो, यत्न करना चाहिए कि शिक्षाप्रतिकूल आचरण न हों ॥1॥

जिसका सहसा आरम्भ हुआ हो, जिस पर सम्यक् विचार न हुआ हो, उस (कार्य) के करने या न करने का विकल्प उचित है, भले ही उसके करने की प्रतिज्ञा कर ली गयी हो ॥2॥

पर जिस पर बुद्ध और उनके महाबुद्धिमान् पुत्र विचार कर चुके हैं, उसमें मैं भरसक विलंब क्यों करूँ ॥3॥

इस प्रकार प्रतिज्ञा कर यदि, उसे कार्य द्वारा पूर्ण न करूँ तो इन सब (प्राणियों) को धोखा देकर (पता नहीं) मेरी क्या गति होगी ॥4॥

जो मन में छोटी सी भी वस्तु देने का संकल्प कर फिर नहीं देता, वह प्रेत होता है। ऐसा कहा गया है ॥5॥

भाव के साथ, सर्वोत्तम सुख (दान) की ऊँची घोषणा करने के बाद, सब जगत् को धोखा देकर मेरी क्या गति होगी ॥6॥

सर्वज्ञ बुद्ध ही कर्म की इस अचिन्त्य गति को जानते हैं, जो बोधिचित्त के त्याग करने पर भी उन मनुष्यों को मुक्त करते हैं ॥7॥

इसलिए इस प्रकार (बोधिचित्त त्याग देने से) बोधिसत्व को सब आपत्तियों में गुरुतम (आपत्ति) लगती है। क्योंकि इस आपत्तिवश, वह सब प्राणियों की स्वार्थहानि करता है ॥8॥

जो कोई दूसरा इस (बोधिसत्त्व) के पुण्य में विघ्न करेगा, उस प्राणियों के स्वार्थघाती की दुर्गति का अन्त नहीं है ॥9॥

एक प्राणी का हितघात करके भी (मनुष्य) हीन हो जाता है । सर्वाकाशपर्यन्त व्यापी प्राणियों का फिर कहना ही क्या ? ॥10॥

एवं आपत्तिवश (पतन) तथा बोधिचित्तवश (उत्थान की ओर अग्रसर प्राणी) संसार में दोलायमान रहने से देर में (बोधिसत्त्व) भूमि प्राप्त कर पाता है ॥11॥

इसलिए जैसी प्रतिज्ञा की है, उसे पूरा करना होगा । आज यदि यत्न नहीं किया तो मैं (रसा-)तल के तल में गया ॥12॥

सब प्राणियों की खोज-खबर रखने वाले असंख्य बुद्ध (आकर) चले गए पर अपने दोष से मैं इनकी चिकित्सा का पात्र न बन सका ॥13॥

जैसे मैंने बारंबार दुर्गति, व्याधि, मरण, छेदन, भेदन आदि पाए, वैसे ही यदि आज भी (पाता) रहूँ (तो)— ॥14॥

मुझे बुद्धोत्पाद, श्रद्धा, मनुष्यजन्म तथा इस प्रकार पुण्याचरण की अत्यन्त दुर्लभ योग्यता फिर कब मिलेगी ॥15॥

यह आरोग्य-दिवस है, भात भी प्रस्तुत है, कोई उपद्रव नहीं है, (पर) आयु का क्षण वंचक है, शरीर उधार जैसी वस्तु है ॥16॥

मेरे इस प्रकार के आचरणों से मनुष्यजन्म फिर न मिल सकेगा । मनुष्यजन्म के अभाव में पाप ही होगा । पुण्य भला कहाँ ? ॥17॥

पुण्य करने के योग्य होकर भी, जब मैं पुण्य नहीं करता, तब दुर्गति-दुःखों से मूर्च्छित होकर क्या करूँगा ॥18॥

पुण्य न कर, पाप ही कमाने वालों को शत-शत कल्पकोटि के भीतर सुगति-शब्द भी नहीं सुनने को मिलता ॥19॥

इसीललए भगवान् ने मनुष्यजन्म को, महासमुद्र में (उतराते) जुए (yoke) के छेद में कछुए की गर्दन घूसने के समान, अत्यन्त दुर्लभ कहा है ॥20॥

एक क्षण के ललए पाप के कारण कल्पभर अवीचि नरक में रहना पड़ता है, फिर अनादिकाल से संचित पाप होने पर सुगति की कथा ही क्या ? ॥21॥

और न उतने ही पापभोग से मनुष्य मुक्त हो पाता है, क्यों उसे भोगते-भोगते ही उससे दूसरा पाप भी हो जाता है ॥22॥

इससे बढकर (आत्म) वंचना नहीं है और न इससे बढकर मूढता, जो ऐसा क्षण पाकर मैं पुण्य नहीं करता ॥23॥

यदि, इस प्रकार विचार करके फिर यों ही मोहमूढ पड़ा रहूँगा, तो यमदूतों से चेताए जाने पर मुझे चिर(-काल) तक फिर पछताना होगा ॥24॥

नरक की असह्य आग चिर(-काल) तक मेरे शरीर को जलाएगी और शिक्षा पर न चलने वाले, मेरे चित्त को चिर(-काल) तक पश्चात्ताप की आग झुलसाएगी ॥25॥

किसी प्रकार अत्यन्त दुर्लभ हित-भूमि पाकर मैं जान-बूझकर, फिर (अपने आप को) उन्हीं नरकों की ओर ललए जा रहा हूँ ॥26॥

यहाँ मुझे चेत नहीं है, मानों मंत्रों से मोह ललया गया हूँ, न जाने मुझे कौन मोह रहा है, मेरे अन्तर में कौन बैठा है ॥27॥

तृष्णा, द्वेष आदि शत्रुओं के हाथ-पैर नहीं है, वे न वीर है और न बुद्धिमान्, फिर भी उन्होंने कैसे मुझे अपना दास बना ललया ॥28॥

मेरे मन में मजे में बैठ मुझे ही मार रहे हैं, पर मुझे क्रोध नहीं आता । अनवसर इस सहिष्णुता को धिक्कार ॥29॥

सभी देव और मनुष्य यदि, मेरे शत्रु हो जाएं तो भी अवीचि नरक की आग फूँक कर उत्पन्न नहीं कर सकते ॥30॥

बलवान् क्लेश-शत्रु, मुझे क्षण भर में, वहाँ फेंक रहे हैं जहाँ छू जाने भर-से सुमेरु तक की भस्म का पता नहीं चलता ॥31॥

अन्य सब शत्रुओं की आयु भी इतनी दीर्घ नहीं होती, जितनी कि मेरे क्लेशशत्रुओं की आद्यन्तरहित महान् दीर्घ आयु होती है ॥32॥

अनुकूलता से सेवा करने पर सभी करते हैं, पर ये क्लेश, सेवा करने पर और भी अधिक दुःख देते हैं ॥33॥

एवं दुःख की बाढ के एकमात्र जनक हेतु, चिर काल के नित्य वैरियों के हृदय में निर्भय रहते हुए, मुझ में संसार से अनुराग हो कैसे सकता है ॥34॥

भव-कारागार के प्रहरी, नरकादि में भी बध्यघातक ये (क्लेश), यदि बुद्धिगृह के भीतर लोभ के पिंजड़े में विद्यमान हैं, तो मुझे सुख कहाँ ॥35॥

इसलिए जब तक ये शत्रु सामने ही नष्ट नहीं हो जाते, मैं (इस कर्तव्य) धुरा को नहीं फेंकूँगा । साधारण अपकारी पर भी क्रुद्ध हो मानी महापुरुष, उसे बिना मारे नींद नहीं लेते ॥36॥

युद्ध-मुख में सहज मृत्यु के दुखान्धकार को बलपूर्वक नाश करने के लिए अगणित बाणों और बर्छियों की चोटों की पीड़ा झेलते तेजस्वी, सफल हुए बिना पीछे मुँह नहीं मोड़ते ॥37॥

फिर निरंतर सब दुःखों के कारणभूत सहज शत्रुओं का नाश करने में उद्यत, मुझे सैकड़ों दुःखों के होने पर भी विषाद और दैन्य किस कारण हो सकता है ॥38॥

अकारण ही (मनस्वी जन अपने को महान् सिद्ध करने के लिए युद्ध कर) शत्रुओं के द्वारा किए घावों को आभूषणों की भाँति अपने अंगों पर धारण करते हैं। फिर महान् अर्थ की सिद्धि के लिए उद्यत, मुझे दुःख क्यों कर बाधा पहुँचा सकते हैं ॥39॥

केवल अपनी जीविका में मन के आसक्त होने से मछुए, चंडाल, किसान आदि सर्दी-गर्मी आदि के दुःख सहते हैं। जगत् के हित के लिए फिर मैं दुःख क्यों न सहूँ ! ॥40॥

दसों दिशाओं में आकाश की सीमा तक के जगत् को क्लेशों से छुड़ाने की प्रतिज्ञा करके, मैंने अपनी आत्मा को भी क्लेशों से नहीं छुड़ाया ॥41॥

तब अपनी इयत्ता बिना जाने, मैं पागल-सा बोलता रहा। अब उसी लिए क्लेशों का बध करने में, मैं पीछे लौटने वाला नहीं ॥42॥

यहाँ मुझे आग्रह होगा। क्लेश-ध्वंस के सहकारी, इस प्रकार के क्लेश को छोड़ अन्यत्र मैं वैर बाँधूँगा, लड़ूँगा ॥43॥

भले ही मेरी आँतें गल जाएं, मेरा माथा गिर पड़े, पर मैं क्लेश-वैरियों के आगे नहीं झुकूँगा ॥44॥

शत्रु निर्वासित होकर भी दूसरे देश में जगह पा सकता है, जहाँ से कि शक्ति बटोर कर फिर आ सकता है। पर क्लेशशत्रु की ऐसी भी दशा नहीं है ॥45॥

मन से निर्वासित उस (क्लेश) को जगह ही कहाँ है, जहाँ ठहर कर मेरे वध का यत्न करे। केवल कमी है मुझ मन्द बुद्धि के उद्योग की। बेचारे क्लेश तो सत्यदर्शन हेय हैं ॥46॥

क्लेश न तो विषयों में हैं, न इन्द्रियसमूह में और न (उन दोनों के) बीच में। न इन्हें छोड़ दूसरी ही किसी जगह है। फिर भी समूचे

जगत् को मथे डालते हैं, यह माया ही है । इसलिए हे हृदय ! डर छोड़ प्रज्ञा के लिए उद्योग करो । बेकार ही क्यों अपने आप को नरकों में पीड़ित करते हो ॥47॥

ऐसा निश्चय कर (शास्त्र में) जैसी शिक्षाओं का उपदेश है, उन पर चलने का यत्न करूँगा । क्योंकि औषध से अच्छा होने वाला रोगी यदि, वैद्य का उपदेश न माने तो नीरोगता फिर कैसे ? ॥48॥

पंचम परिच्छेद संप्रजन्य-रक्षण

शिक्षा-पालन के अभिलाषियों को यत्न से चित्त की रक्षा करनी चाहिए। चंचल चित्त की रक्षा के बिना शिक्षा-पालन संभव नहीं ॥1॥

अशिक्षित मत्त हाथी यहाँ वह पीड़ा नहीं देते, जो स्वच्छंद चित्तरूपी हाथी अवीचिनरक आदि में देता है ॥2॥

चारों ओर से यदि, चित्त-हस्ती स्मृति-रज्जु से बाँध लिया गया तो सब भय दूर है, सब कल्याण प्राप्त है ॥3॥

बाघ, सिंह, हाथी, रीछ, सर्प, सकल शत्रु, सर्व नरकपाल, डाकिनी तथा राक्षस ॥4॥

ये सब के सब एकमात्र चित्त के बंध जाने से बंध जाते हैं। एकमात्र चित्त का दमन करने से सबका दमन हो जाता है ॥5॥

क्योंकि तत्त्ववादी (सुगत) ने, यह कहा है कि सभी भय और अपरिमित दुःख चित्त से ही होते हैं ॥6॥

नरक में यत्नपूर्वक किसने शस्त्र बनाए ? तपे लोहे का कुट्टिम (फर्शी) किसने बनाया ? वे स्त्रियाँ, कहाँ से हो गयीं ? ॥7॥

मुनि ने, कहा है कि वे सबके सब पापी-चित्त से उत्पन्न होते हैं। इसलिए त्रिलोक में चित्त से भयानक दूसरा कोई नहीं है ॥8॥

जगत् की दरिद्रता मिटाकर यदि, दान-पारमिता होती है तो अतीत के तथागतों के लिए वह कैसे संभव हुई, क्योंकि जगत् तो आज भी दरिद्र है ॥9॥

सब प्राणियों के लिए फलसहित सर्वस्व त्यागी चित्त से दानपारमिता (की पूर्णता) कही गई है, अतः वह चित्त ही है ॥10॥

मछली आदि कहाँ ले जाई जा सकती है कि उन्हें न मारा जाए । अतः (प्राणातिपात-) वेरमणी चित्त से शीलपारमिता मानी गयी है ॥11॥

आकाश के समान (अनन्त) कितने दुर्जनों को मार सकूँगा ! यदि, क्रोधी चित्त को मार डाला तो सब शत्रु मार लिए ॥12॥

सब धरती ढकने के लिए चमड़ा कहाँ से मिलेगा; जूते के चमड़े भर से धरती ढक जाती है ॥13॥

उसी प्रकार, बाहरी पदार्थ मेरे रोके नहीं रुक सकते । अपने चित्त को रोकूँगा । दूसरे के रुकने से मेरा क्या ? ॥14॥

काय और वाक् के साथ भी मन्दवृत्ति (चित्त) से, वह फल नहीं होता, जो ब्रह्मता आदि (फल) एकाकी भी तीव्र (वृत्ति) चित्त से होता है ॥15॥

सर्वज्ञ ने, कहा है कि मन्द (वृत्ति) और अन्यमनस्कता से दीर्घकाल तक किए हुए भी जप-तप सब व्यर्थ हैं ॥16॥

जिन्होंने धर्म के सर्वस्व, इस रहस्यमय चित्त को (तत्त्वज्ञान से) भावित न किया, वे बेकार ही आकाश के तले दुःख नाश करने और सुख पाने के लिए भटक रहे हैं ॥17॥

अतः मुझे चित्त को सुरक्षित और अपने वश में करना है । चित्त की रक्षा का व्रत छोड़ बहुत व्रतों से मेरा क्या ? ॥18॥

जिस प्रकार चंचल (लोगों) के बीच बैठा हुआ (पुरुष) सावधानी से अपने घाव की रक्षा करता है, उसी प्रकार दुर्जनों के बीच रहकर चित्तरूपी घाव की रक्षा करनी चाहिए ॥19॥

घाव के नाममात्र दुःख से डरकर घाव की सावधानी से रक्षा करता हूँ। (फिर) संघात (नरक) के पर्वत के समान प्रहारों से डरकर चित्तरूपी घाव की रक्षा क्यों न करूँगा ॥20॥

दुर्जनों और स्त्रीजनों के बीच भी, इसी (जागरूकता के) विहार से विहार करता हुआ यति, (व्रत से) पतित नहीं होता ॥21॥

भले ही मेरे लाभ नष्ट हो जाएं, सत्कार, शरीर, जीवन तथा और जो कुछ भी है, नष्ट हो जाएं, पर चित्त कभी नष्ट न हो ॥22॥

चित्त की रक्षा के अभिलाषियों से, मैं हाथ जोड़ (प्रार्थना) करता हूँ कि स्मृति और संप्रजन्य (=जागरूकता) की पूर्ण यत्न से रक्षा करो ॥23॥

जिस प्रकार, व्याधिपीडित पुरुष किसी भी काम के योग्य नहीं होता, उसी प्रकार इन (स्मृति और संप्रजन्य) से रहित चित्त, किसी भी काम के योग्य नहीं होता ॥24॥

संप्रजन्य-चित्त-हीन (पुरुष) का श्रवण, मनन और निदिध्यासन, फूटे घड़े के पानी की भाँति स्मृति में नहीं ठहरता ॥25॥

अनेक बहुश्रुत, श्रद्धालु और यत्नशील (पुरुष) भी असंप्रजन्य दोष के कारण (व्रतभंग की) आपत्ति से कलुषित हो जाते हैं ॥26॥

स्मृति ढीली हुई कि असंप्रजन्य-चोर पीछे पड़ा (और पुण्य की कमाई चुराई)। (इस प्रकार) जिनकी चोरी होती है, वे पुण्य कमा कर भी दुर्गति पाते हैं ॥27॥

क्लेशरूपी चोरों का यह दल, घुसने का मार्ग खोजता रहता है। घुसने का मार्ग पाकर चोरी करता है। सद्गति के जीवन की हत्या करता है ॥28॥

नरक की पीड़ा का स्मरण कर, स्मृति को मन के द्वार से कभी न हटाना चाहिए। गयी (स्मृति) को भी फिर वहीं टिकाना चाहिए ॥29॥

उपाध्याय के अनुशासन और भय तथा गुरुजनों के सत्संग से श्रद्धालु पुण्यात्माओं में सहज ही स्मृति बनी रहती है ॥30॥

बुद्ध और बोधिसत्त्वों की दृष्टि, सर्वत्र बेरोक-टोक पहुँचती है। सभी कुछ उनके समक्ष है। मैं उनके सामने खड़ा हूँ ॥31॥

ऐसा ध्यान कर लज्जा, गौरव और भय के साथ, उसी प्रकार (संयत) ठहरना चाहिए। इस प्रकार, उसे बारंबार बुद्धानुस्मृति भी होती है ॥32॥

जब स्मृति, मन के द्वार पर रक्षा के लिए खड़ी रहती है, तब संप्रजन्य आता है और फिर नहीं जाता ॥33॥

पहले इस चित्त को, सदा इस प्रकार उपस्थित रखना चाहिए, (फिर) मुझे काठ की भाँति इन्द्रियहीन हो रहना चाहिए ॥34॥

कभी भी बेकार दृष्टिविक्षेप न करना चाहिए। निरन्तर दृष्टि नीची और ध्यानरत जैसी रखनी चाहिए ॥35॥

दृष्टि को विश्राम देने के लिए कभी-कभी दिशाओं की ओर देखना चाहिए। झलक मिलते ही (आगन्तुक के) स्वागत के लिए दृष्टि फिरानी चाहिए ॥36॥

मार्ग आदि में भय (के कारण) को जानने के लिए चारों दिशाओं को देखना चाहिए। पीछे घूमकर अब्याकुल भाव से दिशाओं का अवलोकन करना चाहिए ॥37॥

आगे-पीछे का ध्यान करके आगे बढ़ना या पीछे लौटना चाहिए । इस प्रकार, सब अवस्थाओं में समझ-बूझकर काम करना चाहिए ॥38॥

(काम करते) शरीर, इस प्रकार रहना चाहिए, (अब) शरीर की स्थिति कैसी है—इन बातों को काम रोककर बीच में फिर-फिर देख लेना चाहिए ॥39॥

चित्त के मतवाले हाथी का सब जतन से ध्यान रखना चाहिए कि धर्मचिन्ता के विशाल खंभे से बंधा रहे, छूट न सके ॥40॥

मेरा मन कहाँ है—यह यों देखते रहना चाहिए कि समाधि की धुरा को क्षण भर के लिए भी छोड़ न सके ॥41॥

भय, उत्साह आदि होने पर यदि, (समाधि) न सधे तो जैसी मौज वैसे रह (क्योंकि जिसका ब्याह उसके गीत) । इसीलिए दान के समय, शील की उपेक्षा की बात कही गयी है ॥42॥

सोच समझकर जिसका करना आरम्भ किया है, उसके अतिरिक्त और कुछ न सोचे । उसे ही पहले तन्मय मन से पूरा करे ॥43॥

इस प्रकार, सब ठीक बनता है । नहीं तो (आरब्ध और आरभ्यमाण) दोनों ही नहीं होते । असंप्रजन्य का क्लेश भी इस प्रकार बढ़ जाता है ॥44॥

नाना प्रकार से चल रही नाना प्रकार की गल्प-सल्पों तथा सभी कौतूहलों में यदि उत्सुकता उत्पन्न हो तो रोके ॥45॥

मिट्टी मसलना, तिनका तोड़ना, लकीरें खींचना आदि निरर्थक प्रवृत्तियों को तथागत की शिक्षा का स्मरण कर, डरकर उसी क्षण छोड़ देना चाहिए ॥46॥

जब चलने या बोलने की इच्छा हो तो पहले अपने चित्त को संभाल कर धैर्य और ढंग के साथ बरते ॥47॥

जब अपना मन सराग और सद्द्वेष दीख पड़े, तब न कुछ करना चाहिए, न बोलना, काठ की भाँति सदा पड़े रहना चाहिए ॥48॥

जब मन चंचल अथवा उपहासकारी, मानी, मदान्ध सोत्प्रास (=हंसी ठट्टे की भावना वाला), उत्कट, कुटिल और वंचक हो (तब काठ की भाँति पड़े रहना चाहिए) ॥49॥

जब (मन) अपनी प्रशंसा सोच रहा हो और दूसरे की निन्दा, गाली देना चाहता हो या झगड़ा करना चाहता हो, तब सदा काठ की भाँति पड़े रहना चाहिए ॥50॥

मेरा चित्त लाभ, सत्कार और कीर्ति का अभिलाषी है, परिवार (=परिचारक) चाहता है और चाहता है सेवा, इसलिए मुझे काष्ठ की भाँति पड़े रहना है ॥51॥

मेरा चित्त परहितविमुख, स्वार्थपरायण, अथवा समाज-संग्रहाभिलाषी हो बोलना चाहता है, इसलिए मैं काठ की भाँति पड़ा हूँ ॥52॥

(मेरा मन) असहनशील, आलसी, भीत, धृष्ट, बकवादी और पक्षपाती है, इसलिए मैं काठ की भाँति पड़ा हूँ ॥53॥

(इस प्रकार) वीर पुरुष को चाहिए कि ऐसे क्लेशयुक्त, व्यर्थप्रवृत्ति वाले मन का सर्वदा (उसके) विरोधी (भाव) द्वारा निग्रह करें ॥54॥

सुनिश्चित, सुप्रसन्न, धीर, औदार एवं गौरव से युक्त, सलज्जा, सभय, शान्त, परहितोन्मुख ॥55॥

परस्पर विरुद्ध पृथग्जनाभिलाषाओं से अखिन्न, क्लेशों की उत्पत्ति के कारण इनमें यह ऐसा है (-यह सोचते हुए) कारुणिक ॥56॥

धर्म विषय में नित्य स्वाधीन तथा सत्त्वाधीन, निर्माण (= ऋद्धि-निर्मित) के समान मानरहित मन धारण करता है ॥57॥

चिरकाल के अनन्तर प्राप्त श्रेष्ठ क्षण का बारंबार स्मरण कर चित्त को ऐसे धारण करता हूँ जैसे (वह) अडिग सुमेरु हो ॥58॥

यहाँ (चित्त-हीन) शरीर (निकम्मा है), अन्यथा मांसलोभी गिद्धों से इधर-उधर खींचे जाने पर प्रतिकार क्यों न करता ? ॥59॥

हे मन ! अपना समझ, इस (हड्डी-मांस के) ढेर की क्यों रक्षा करते हो ? यदि, यह तुमसे अलग ही है, तो इससे तुम्हारा क्या बिगड़ा ? ॥60॥

हे मूढ़ ! पवित्र कठपुतली को क्यों नहीं अपनाता ? अशुचि-घटित इस पूति-यंत्र की क्यों रक्षा करता है ? ॥61॥

खाल के इस खोल को अपनी बुद्धि से अलग कर । प्रज्ञा-शास्त्र द्वारा मांस को हड्डियों के पिंजड़े से छुड़ा ॥62॥

हड्डियों को भी अलग कर भीतर मज्जा देख (और) अपने आप विचार कि इसमें सार क्या है ? ॥63॥

इस प्रकार, जतन से खोज करके भी तुझे सार न दीखा । अब बोल ! तू अब भी क्यों शरीर की रक्षा करता है ? ॥64॥

तू अशुचि नहीं खाएगा । लोहू नहीं पीएगा । आँतें नहीं चूसेगा । शरीर से क्या करेगा ? ॥65॥

कर्मों का साधन होने से, इस मानव-शरीर की रक्षा करनी चाहिए (नहीं तो यह) गिद्ध-सियारों आदि के भोजन के लिए (ठीक) है ॥66॥

इस प्रकार, रक्षा करते हुए भी (जब) निर्दयी मौत काया छीन कर गिद्धों को दे देगी, तब तू क्या करेगा ॥67॥

न ठहरने वाले चाकर को कपड़े-लत्ते नहीं दिए जाते । तू क्यों खर्च करता है ? यह शरीर खा-पीकर चला जाने वाला (ही) है ॥68॥

हे मन ! इस (शरीर) को मजदूरी देकर अपना अर्थ साधो । मजदूर की सारी कमाई उसे (ही) नहीं दे दी जाती ॥69॥

काया को आने-जाने के सहारे के निमित्त नौका समझ, प्राणियों की अर्थसिद्धि के लिए काया को इच्छाधीन बरतने वाला बना ॥70॥

इस प्रकार, अपने आप को वश में कर सदा हंसमुख रहना चाहिए, भौंहें टेढ़ी न करनी चाहिए, पहले ही कुशल-प्रश्न पूछना चाहिए, जगत् का मित्र होना चाहिए ॥71॥

पीढे आदि को इस तरह न रखे कि आवाज हो और किवाड़ न भड़भड़ाए । सदा चुपचाप रहना पसन्द करे ॥72॥

बक, बिड़ाल और चोर शान्त एवं निःशब्द रहकर इष्ट-सिद्धि करते हैं । यति को नित्य इसी प्रकार आचरण करना चाहिए ॥73॥

उपदेश देने में परम कुशल, बिना प्रार्थना किए ही उपकाररत (जनों) के वचनों को सिरमाथे लेना चाहिए (तथा शिक्षा लेने की इच्छा से) सबका शिष्य रहना चाहिए ॥74॥

सब सुभाषित (-प्रसंगों पर) साधुवाद देना चाहिए । पुण्यात्मा को देख स्तुतियों से प्रहर्षित करना चाहिए ॥75॥

पीठ-पीछे गुण-कीर्तन करना चाहिए । संतोष से (गुण) अनुवाद करना चाहिए । अपनी प्रशंसा में दूसरे की गुणज्ञता की भावना करनी चाहिए ॥76॥

सब कार्य संतोष के निमित्त किए जाते हैं। वह धन से दुर्लभ है। अतएव परकीय गुणों से संतोष-सुख भोगूँगा जहाँ अपने को परिश्रम नहीं करना है ॥77॥

मेरा इसमें कुछ व्यय नहीं है और परलोक में महासुख है। द्वेष से (यहाँ) असंतोष-दुःख है और परलोक में महादुःख है ॥78॥

निर्भ्रान्त एवं व्यवस्थित पदयुक्त, निश्चितार्थक, मनोहर, श्रवणसुखद, कृपामूलक मृदु और मन्द स्वर से बोलना चाहिए ॥79॥

सहज भाव से, आँखों से जैसे पान किया जा रहा हो वैसे, प्राणियों को देखना चाहिए (और सोचना चाहिए कि) इन्हीं की (सेवा के) सहारे, मुझे बुद्धत्वलाभ होगा ॥80॥

सतत-अभिनिवेश-जनित, प्रतिपक्ष-समुत्पन्न, गुणक्षेत्र, उपकारक्षेत्र और दुःखित (-क्षेत्र) में (दान आदि से) महान् पुण्य होता है ॥81॥

सदा स्फूर्तिमान्, उद्योगपरायण हो स्वयं काम करना चाहिए। (अपने) सब कामों में किसी को (कुछ भी करने का) अवसर न देना चाहिए ॥82॥

दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा नामक छह पारमिताओं में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ हैं। इनमें आचार पुण्यरूपी जल का बाँध है। उसे कभी न तोड़ना चाहिए। अन्यत्र जहाँ कई पारमिताओं के आचरण का अवसर हो, वहाँ संभव हो तो सबका आचरण करना चाहिए, पर श्रेष्ठ पारमिता का उससे अवर पारमिता के लिए त्याग न करना चाहिए ॥83॥

ऐसा समझ कर परोपकार में सदा उद्यत रहे। (सत्त्व-) हितदर्शी कृपालु के लिए अवैध की भी अनुमति है ॥84॥

पतितों, अनाथों और सब्रह्मचारियों को (एक-एक) भाग देकर (बचे हुए चतुर्थ भाग को) मध्यम मात्रा में खाना चाहिए । तीन चीवरों से अधिक होने पर दान करना चाहिए ॥85॥

सद्धर्म के सेवक शरीर को छोटी-मोटी बातों के लिए न सताना चाहिए । क्योंकि ऐसा करने से ही वह प्राणियों की आशा को शीघ्र पूर्ण कर सकता है ॥86॥

अशुद्ध करुणाशय हो तो जीवन का उत्सर्ग न करना चाहिए । तुल्य करुणाशय हो तो करना चाहिए । इस प्रकार बोधिसत्त्व का पतन नहीं होता ॥87॥

अश्रद्धालुओं को तथा पगड़ी बाँधे, छाता-डंडा और शस्त्र लिए एवं माथा ढके स्वस्थ पुरुषों को धर्मोपदेश न करना चाहिए ॥88॥

हीनों को गंभीर और उदार (महायान धर्म की देशना) न करनी चाहिए, पुरुषरहित स्त्रीजनों को (धर्मदेशना न करनी चाहिए) । हीनयान और महायान धर्मों में समान गौरव रखना चाहिए ॥89॥

महायान धर्म के योग्य को हीनयान में न लगाना चाहिए । आचरण को छोड़कर सूत्र और मंत्रों (के पाठ मात्र) से (पुण्यार्जन का) प्रलोभन न देना चाहिए ॥90॥

दतौन और थूक को खुला (=बिना ढके) न छोड़ना चाहिए और न भोग्य जलस्थल में घृणित मूत्रादि करना चाहिए ॥91॥

मुँह भरकर, मुँह फैलाकर, और आवाज निकाल कर न खाना चाहिए । पाँव पसार कर न बैठना चाहिए । एक साथ दोनों बाहों को न मसलना चाहिए ॥92॥

अकेली पराई स्त्री के साथ न बैठना चाहिए, न सोना चाहिए और न यात्रा करनी चाहिए । जो लोगों को बुरा लगता-दीखता हो,

वह सब (स्वयं) देखकर और पूछ कर (जानना चाहिए और उसे) छोड़ देना चाहिए ॥93॥

आदर के साथ समूचे दाहिने हाथ से, जो कुछ दिखाना हो दिखाना चाहिए, एक उंगली से नहीं। मार्ग भी इसी प्रकार बताना चाहिए ॥94॥

थोड़ी सी घबराहट में भुजा उठा कर किसी को न पुकारें, पर ताली आदि बजाए। अन्यथा संवर-हीन माना जाएगा ॥95॥

परिनिर्वाण के समय, भगवान् के शयन की भाँति, अभीष्ट दिशा में, सावधान हो सोना चाहिए। शीघ्र उठ बैठना चाहिए कि किसी को कहना न पड़े ॥96॥

बोधिसत्त्वों के आचारों की संख्या नहीं है। पर जिस आचार से चित्तशुद्धि हो, उसका अवश्य ही पालन करना चाहिए ॥97॥

तीन बार रात और तीन बार दिन में त्रिस्कन्ध की आवृत्ति करनी चाहिए। अनजान में हुई आपत्तियों का शमन, उससे तथा बुद्ध और बोधिचित्त के आश्रय से हो जाता है ॥98॥

स्वाधीन या पराधीन जिन अवस्थाओं को प्राप्त हो, उन-उन अवस्थाओं में जो-जो शिक्षणीय हो, उसे यत्न से सीखना चाहिए ॥99॥

बुद्धपुत्रों को, जो न सीखना हो, वह कुछ है ही नहीं। इस प्रकार, विहार करते वह नहीं होता, जो कि पुण्य नहीं है ॥100॥

साक्षात् अथवा परंपरया, जो प्राणिहितार्थ न हो, उसे न करना चाहिए। प्राणिहितार्थ ही बोधि के लिए सब (पुण्यों) की परिणामना करनी चाहिए ॥101॥

बोधिसत्त्वव्रती, महायानार्थकुशल कल्याणमित्र का कभी अपने जीवन के लिए भी त्याग न करना चाहिए ॥102॥

जो गुरुवर्तन अर्थात् कल्याणमित्र-परिचर्या है, उसे श्रीसंभवविमोक्षसूत्र से सीखना चाहिए। सूत्रान्तों का अध्ययन करके, यह तथा अन्य दूसरी बातें, जिनकी देशना भगवान् ने की है, जाननी चाहिए ॥103॥

शिक्षाएँ सूत्रों में देखी जाती हैं, इसलिए सूत्रों को बांचना चाहिए। आकाशगर्भसूत्र से मूल आपत्तियों को जानना चाहिए ॥104॥

शिक्षासमुच्चय अवश्य बारंबार देखना चाहिए, क्योंकि उसमें विस्तार के साथ सादाचार का वर्णन है ॥105॥

अथवा संक्षेप से (देखना हो तो मेरे) सूत्रसमुच्चय को या आचार्य नागार्जुन द्वारा संगृहीत दूसरे (सूत्रसमुच्चय को) यत्र से देखना चाहिए ॥106॥

जहाँ जिसका निषेध है और जिसका विधान है, उसका शिक्षा देखकर लोकभावना की रक्षा के लिए आचरण करना चाहिए ॥107॥

संप्रजन्य का संक्षेप से, यही लक्षण है कि शरीर और चित्त की अवस्था का बारंबार प्रत्यवेक्षण किया जाए ॥108॥

वाणी के पाठ से क्या होना है, शरीर से ही पढ़ूँगा। चिकित्सा (ग्रन्थों) के पाठमात्र से रोगी का भला क्या (भला) होगा ! ॥109॥

षष्ठ परिच्छेद क्षान्ति-पारमिता

सुचरित, दान और बुद्धपूजन-यह सब, जो सहस्रों कल्पों तक किया गया है, उसे द्वेष नष्ट कर डालता है ॥1॥

द्वेष के समान पाप नहीं है और क्षमा के समान तप नहीं है । इसलिए विविध प्रकार के यत्नों से क्षमा-भावना करनी चाहिए ॥2॥

हृदय में द्वेष का काँटा चुभा होने से मन को न शान्ति मिलती है और न सुख का अनुभव हो पाता है, न नींद आती है और न धीरज रहता है ॥3॥

द्वेष-दुष्ट स्वामी को, जिनकी वह धन-मान से पूजा करता है और जो उसके आश्रित हैं, वे भी मार डालना चाहते हैं ॥4॥

मित्र भी इससे घबराते हैं, (वह धन) देता है पर (कोई उसकी) सेवा नहीं करता । संक्षेप से, कुछ भी ऐसा नहीं, जिससे क्रोधी विश्राम से रहे ॥5॥

बैरी बनकर, यह इस प्रकार के दुःख देता है । जो आग्रह से (इस) क्रोध को मारता है, वह यहाँ और परलोक में सुखी होता है ॥6॥

इष्टनाश और अनिष्ट किए जाने से (उत्पन्न) दौर्मनस्य (=मानसिक दुःख का) भोजन पा कर अभिमत्त हुआ द्वेष मुझे मारता है ॥7॥

इसलिए उस बैरी के भोजन का मैं नाश करूँगा, क्योंकि मेरी हत्या के अतिरिक्त, इस बैरी को दूसरा काम ही नहीं है ॥8॥

अत्यन्त अनिष्ट हो जाने पर भी मुझे मुदिता में क्षोभ नहीं करना चाहिए । (क्योंकि) दौर्मनस्य से भी इष्ट नहीं हो पाता प्रत्युत पुण्यहानि होती है ॥9॥

यदि, (अनिष्ट का) प्रतिकार है तो दौर्मनस्य से क्या ? यदि, प्रतिकार नहीं है तो दौर्मनस्य से क्या ? ॥10॥

दुःख, रूक्षता, तिरस्कार, अपकीर्ति—ये अपने या अपने प्रियों को इष्ट नहीं होते, शत्रु को (ये हों) तो उलटे (इष्ट) होते हैं ॥11॥

जैसे-कैसे सुख मिल पाता है, दुःख बिना जतन के ही खड़ा रहता है । दुःख से ही निस्तार है । इसलिए हे चित्त ! दृढ़ बने रहो ॥12॥

चंडी के उपासक और कर्णाटक (आदि दाक्षिणात्य) दाह और छेद की पीड़ाओं को बेकार सहते हैं । मैं मूर्च्छा के लिए (दुःख सहने में फिर) क्यों कातर होऊँ ॥13॥

वह कोई वस्तु नहीं, जो अभ्यास से दुष्कर हो । इसलिए हलकी व्यथा (के सहने का) अभ्यास कर लेने से (बाद में) महाव्यथा भी सही जा सकती है ॥14॥

डसने वाले डांस और मच्छर तथा भूख-प्यास आदि की पीड़ा, खुजली आदि महादुःख के अनर्थ को (अभ्यासवश सहा जाता) देखते क्यों नहीं ? ॥15॥

शीत, उष्ण, वर्षा, वायु, मार्ग, व्याधि, बंधन और ताड़न से (घबड़ा कर अपने को) सुकुमार न बनाना अन्यथा पीड़ा बढ़ती जाएगी ॥16॥

कितने ही अपना लोहू देखकर विशेष रूप से पराक्रम करते हैं, कितनों को दूसरे का लोहू देखकर भी मूर्च्छा आ जाती है ॥17॥

वह चित्त के दृढ तथा कातर होने से होता है, इसलिए दुःख-दुर्योधन होना चाहिए और पीड़ा को पराजित करना चाहिए ॥18॥

बुद्धिमान् को चाहिए कि दुःख में भी चित्त को प्रसन्न रखे, विकार न आने दे। क्योंकि क्लेशों से युद्ध छिड़ा है और युद्ध में पीड़ा सुलभ होती है ॥19॥

छाती से शत्रुओं की चोटों को झेलते हुए जो-जो शत्रुओं को जीतते हैं, वे-वे शूर और विजयी हैं। शेष तो मुर्दों को मारने वाले हैं ॥20॥

दुःख का दूसरा यह गुण है कि उसके संवेग से असंकार टूट जाता है, संसार के लोगों पर करुणा होती है, पाप से भय होता है (और) बुद्ध में भक्ति होती है ॥21॥

महादुःखद पित्त आदि पर मुझे क्रोध नहीं आता फिर सचेतनों पर क्रोध क्यों? वे भी तो (पित्त आदि) प्रत्ययों से कुपित होते हैं ॥22॥

बिना चाहे ही (शरीर में), जैसे यह शूल उत्पन्न होता है, वैसे बिना चाहे ही (प्राणियों में) क्रोध उत्पन्न होता है ॥23॥

‘क्रोध करुणा’ ऐसा सोच अपनी इच्छा से प्राणी क्रोध नहीं करता। ‘उत्पन्न हूँगा’ यह अभिप्राय रख कर क्रोध उत्पन्न नहीं होता ॥24॥

जितने अपराध और विविध पाप होते हैं, सब अपने प्रत्यय-बल से होते हैं। स्वतंत्र नहीं ही होते ॥25॥

प्रत्यय-सामग्री को चेतना नहीं होती कि मैं उत्पन्न करती हूँ और न उत्पन्न (कार्य) को चेतना होती है कि मैं उत्पन्न किया गया हूँ ॥26॥

जिनके मत में प्रधान (एक स्वतंत्रत पदार्थ) है, (या) जिन्होंने आत्मा की (एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में) कल्पना की है, (वह प्रधान या आत्मा) ‘वही मैं उत्पन्न होता हूँ’—यह सोच कर उत्पन्न नहीं होता ॥27॥

वह (आत्मा) अनुत्पन्न तो है नहीं, फिर होने की इच्छा किसे होगी ? और (वह) यदि, विषय-प्रवृत्त हो, तो निवृत्त भी न होगा ॥28॥

आत्मा नित्य है, (वैशेषिक मत में) अचेतन है, आकाशवत् स्पष्ट ही निष्क्रिय है। दूसरे प्रत्ययों के संग से भी निर्विकार में क्रिया कैसी ? ॥29॥

क्रिया के समय, जो (आत्मा) पूर्ववत् निष्क्रिय है, क्रिया से उसे करना ही क्या ? 'उसकी क्रिया' इस संबन्ध (वाचक प्रयोग) में, उसका (क्रिया से) कौन सा संबन्ध है ? ॥30॥

इस प्रकार, सब कुछ परंपत्र है, परतंत्रकारक भी (स्वहेतु-) परतंत्र है। एवं निर्मितों के समान चेष्टाहीन भावों पर कोप कहाँ ? ॥31॥

(प्रश्न) इस प्रकार, यदि सब कुछ निर्मितों के समान माया हैं तो क्रोध आदि से निवारण करना ठीक नहीं। कारण कि निवारण करना तभी हो सकता है, जब कोई वास्तविक पदार्थ हो। जब कुछ वास्तविक पदार्थ है ही नहीं, तब निवारण करने वाला कौन ? जिसका निवारण किया जाता है, वह क्या ? (उत्तर) मायामय पदार्थों में भी प्रतीत्यसमुत्पाद संबन्ध है। अतः निवारण करना ठीक है। दुःखनिरोध सबको इष्ट है, अतः दुःख के कारण और उसके निरोध के उपाय का प्रतिपादन उचित ही है ॥32॥

अतः शत्रु, मित्र—या जिस किसी अन्यायकारी को देख, 'इसके ऐसे प्रत्यय हैं'—ऐसा सोचकर नाराज नहीं होना चाहिए ॥33॥

यदि, अपनी इच्छा से सब देहधारियों की (मनोरथ-) सिद्धि हो जाती है, तो किसी को दुःख न होता। क्योंकि दुःख कोई नहीं चाहता ॥34॥

प्रमाद से (लोग), अपने-आप काँटे चुभो लेते हैं। क्रोध अथवा अलभ्य-स्त्री आदि की कामना से भोजन आदि का त्याग कर अपने आप को सताते हैं ॥35॥

फाँसी लगा, पर्वत से गिर, विष और अपथ्य आदि खा, तथा पापाचरण कर कितने ही आत्मघात करते हैं ॥36॥

जब इस प्रकार क्लेशों के वश में हो, अपने प्रिय शरीर की हत्या कर डालते हैं, तब दूसरों के शरीर के प्रति (वैसा करने से) कैसे रुकेंगे ॥37॥

क्लेशों से उन्मत्त हो, आत्मघात में लगे, इन (प्राणियों) पर केवल दया न आए, यह हो नहीं सकता । क्रोध उत्पन्न ही कैसे हो सकता है ? ॥38॥

यदि, अज्ञानियों का स्वभाव दूसरों के प्रति उपद्रव करने का है, तो मुझे उन पर क्रोध करना उचित नहीं, क्योंकि आग जहाँ होगी, वहाँ जलायेगी ही ॥39॥

और यदि, प्राणी स्वभाव के सरल है तथा यह दोष आगन्तुक है, तो भी क्रोध करना अनुचित है, क्योंकि कड़ुए धुँए में, आकाश का हाथ ही क्या ? ॥40॥

यदि, (पीड़ा देने में) प्रधान दण्ड आदि को छोड़कर (उनके) प्रेरक पर क्रोध करता हूँ, तो वह भी द्वेष से प्रेरित हुआ है, अतः मेरा द्वेष के प्रति क्रोध करना ठीक हो सकता है (द्वेषी के प्रति नहीं) ॥41॥

मैंने भी पहले प्राणियों को इसी प्रकार सताया है, इसलिए मुझ प्राणियों के उपद्रवकारी के प्रति यह ठीक ही है ॥42॥

उस (अपकारी) का शस्त्र और मेरा शरीर दोनों दुःख के कारण हैं । उसने शस्त्र पकड़ा है और मैंने शरीर । फिर क्रोध कहाँ किया जाए ? ॥43॥

प्रतिमारूपी, पीड़ासहिष्णु मैंने यह फोड़ा पाला है । उसके पीड़ित होने पर तृष्णान्ध हो, मैं किस पर क्रोध करता हूँ ! ॥44॥

[मैं] मूढ दुःख नहीं चाहता, दुःख के हेतु [शरीर आदि] को चाहता हूँ। [फलतः] अपने अपराध से, जब दुःख आया है, तब दूसरे पर क्रोध क्यों ? ॥45॥

जैसे असिपत्र-वन, जैसे नरक के पक्षी मेरे कर्म से ही उत्पन्न होते हैं, वैसे यह [संसारदुःख भी है], फिर कहाँ कोप करूँ ? ॥46॥

मेरे कर्मों से प्रेरित होकर, वे मेरे अपकारी हुए हैं और इससे, उन्हें ही नरक जाना पड़ेगा। इस प्रकार मानो, मैंने ही उनकी हत्या की है ॥47॥

क्षमा करने से, मेरा बहुत-सा पाप, इनके सहारे कटा जाता है पर मेरे सहारे, ये चिर दुःखद नरकों में जा रहे हैं ॥48॥

[अतएव] मैं ही इनका अपकारी हूँ, ये मेरे उपकारी हैं। हे दुष्ट चित्त ! क्यों उलटे इन पर कोप करता है ? ॥49॥

यदि, मैं नरक नहीं जाता तो वह मेरी अन्तरात्मा के गुण से है। यदि, मैंने अपने आप को बचा लिया तो उससे इन [प्राणियों] का क्या आया-गया ? ॥50॥

यदि, [मैं भी] उपकार के बदले अपकार करूँ तो ये नहीं बचते और मेरी चर्या भी नष्ट होती है। इससे इन बेचारों का सत्यानाश ही है ॥51॥

अमूर्त होने के कारण कहीं कोई मन को नहीं मार सकता। शरीर में आसक्त होने के कारण शरीर-दुःख से, उसे पीड़ा होती है ॥52॥

तिरस्कार, कठोर वचन और अपकीर्ति का यह समूह शरीर को पीड़ा नहीं देता, [फिर] हे चित्त ! क्यों क्रोध करते हो ? ॥53॥

मेरे प्रति दूसरों की जो अप्रसन्नता है, वह यहाँ या दूसरे जन्म में क्या मुझे खा जाएगी, जो अभीष्ट नहीं ॥54॥

लाभ में विघ्नकारक होने के कारण, यदि मुझे वह अभीष्ट नहीं तो मेरे लाभों को तो यहीं नाश हो जाना है, पर पाप को [जब तक भोग न हो जाए तब तक] निश्चित रूप से रहना है ॥55॥

आज ही मेरी मृत्यु का हो जाना श्रेष्ठ है, चिर (काल) तक मिथ्याजीवन [इष्ट] नहीं। क्योंकि चिर (काल) तक ठहर कर भी मुझे वही मृत्यु-दुःख भोगना है ॥56॥

स्वप्न में, जो सौ बरस सुख भोग कर जगता है और जो क्षण भर सुखी होकर जगता है ॥57॥

उन दोनों का सुख जग जाने पर नहीं रहता। चिरंजीवी और अल्पजीवी की [भी] मृत्यु के समय, वही उपमा है अर्थात् मृत्युदुःख दोनों के लिए समान है ॥58॥

बहुत लाभ पाकर भी, चिर (काल) तक सुख भोग कर भी, मुझे लूट गया जैसा खाली हाथ और नंगा जाना होगा ॥59॥

लाभ से जीते हुए पापक्षय और पुण्यर्जन करता हूँ [यदि, यह सोचूँ तो ठीक नहीं] क्योंकि लाभ के लिए क्रोध करते हुए [मैं वस्तुतः] पुण्यक्षय और पापर्जन करता हूँ ॥60॥

जिस [पुण्य] के लिए जीता हूँ, यदि उसी का नाश हो, तो कोरे अपुण्य कमाने वाले, उस जीवन से क्या ? ॥61॥

[स्व-] निन्दक के प्रति यदि, द्वेष इसलिए है कि वह सत्त्वापकारी है तो परनिन्दक के प्रति भी तुझे क्रोध क्यों नहीं आता ? ॥62॥

उन क्रोधियों पर तेरी क्षमा है, जिनका कि क्रोध दूसरों पर है, पर [स्व-] निन्दक के प्रति क्षमा नहीं, [यद्यपि] उसका भी [निन्दा-] क्लेश दूसरों [=हेतुप्रत्ययों] पर निर्भर है ॥63॥

प्रतिमा, स्तूप और सद्धर्म के नाशकों और निन्दकों पर मुझे क्रोध करना उचित नहीं क्योंकि बुद्ध आदि को इससे व्यथा नहीं होती ॥64॥

पूर्ववत् [यह] देख [कि सब] हेतु-प्रत्ययवश होता है, गुरुओं, स्वजनों और प्रियों का अपकार करने वालों के प्रति क्रोध न करना चाहिए ॥65॥

देहधारियों को चेतनों और अचेतनों से पीड़ा होने का नियम है। वह पीड़ा चेतन में होती दिखाई पड़ती है। इसलिए उसे व्यथा को सहन करो ॥66॥

मोह से कोई अपराध करते हैं और मोह से कोई क्रोध करते हैं। इनमें किसको निर्दोष कहूँ और किसको अपराधी ? ॥67॥

पहले क्यों ऐसी करनी कि जो इस प्रकार दूसरों से सताए जा रहे हो। सब कर्माधीन हैं, उसे उलटने वाला मैं कौन ? ॥68॥

ऐसा समझ कर मुझे वैसा यत्न करना है कि सब परस्पर मैत्री-चित्त हो जाएं ॥69॥

घर में आग लगने पर, दूसरे घर के तृण आदि में, जहाँ आग लगने की संभावना होती है, जैसे उसे खींच कर अलग किया जाता है ॥70॥

वैसे जिसके संग से चित्त द्वेष की आग से जलने लगता हो, उसे उसी क्षण पुण्य-शरीर के जलने की शंका से छोड़ देना चाहिए ॥71॥

बधार्ह को, यदि हाथ काट कर, मुक्त कर दिया जाए तो अमंगल क्या ? लोगों के हाथों दुःख भोग यदि नरक से मुक्ति मिल जाए तो अमंगल क्या ? ॥72॥

यदि, आज इतना भर भी दुःख नहीं सहा जाता तो नरक के दुःखों के मूल क्रोध का निवारण क्यों नहीं करते ? ॥73॥

क्रोध के कारण ही, मैं यों ही सहस्रों बार नरकों में बंदी रहा ।
पर मैंने न अपना ही स्वार्थ साधा और न दूसरों का ही ॥74॥

यह [क्षांति चर्या का] दुःख वैसा नहीं है और महार्थ [=बोधि]
साधक है । ऐसे दुःख से प्रीति करना ठीक है, जिससे संसार का दुःख
दूर होता है ॥75॥

यदि, कितने ही [किसी के] गुणों की महिमा गाकर प्रेमानन्द में मग्न
है, तो हे चित्त ! तू भी उसकी स्तुति कर क्यों नहीं मग्न होता ? ॥76॥

यह तेरा हर्ष-सुख अनिन्द्य और सुखजनक है । गुणियों ने, इसका
निषेध नहीं किया है । (यह वह) उत्तम (साधन है कि जिससे) दूसरे
नम्र होते हैं ॥77॥

“उसी को सुख है”—इसलिए यह तुझे भाता नहीं, तो (उसको
ही सुख होगा—इस भय से जब तू) न वेतन देगा और न दान आदि
करेगा (तब) तेरे दृष्ट और अदृष्ट (कैसे सुधरेंगे, वे तो) बिगड़ (ही)
जाएंगे ॥78॥

अपनी कीर्ति होने पर चाहते हो कि दूसरे सुखी हों पर दूसरों
के गुणकीर्तन होने पर अपने आप सुखी होना भी नहीं चाहते ॥79॥

सब प्राणियों के सुख की चाह से, बोधिचित्त उत्पन्न कर, आज
स्वयं सुखी हुए, प्राणियों पर क्यों कुपित होते हो ? ॥80॥

प्राणियों के लिए त्रैलोक्यपूज्य बुद्धता की कामना करते हो, पर
उनके नश्वर सत्कार को देख क्यों जलते हो ? ॥81॥

तुम्हें जिसे पोसना है, उसे जो पोस रहा हो, वह वस्तुतः तुम्हें
दे रहा है । (ऐसा) कुटुम्ब-पोषक पाकर, प्रसन्न न हो नाराज हो रहे
हो ! ॥82॥

जो बोधि चाहता है, वह प्राणियों का क्या नहीं चाहता ? जिसे दूसरे की संपत्ति पर कोप है, उसे बोधिचित्त कहाँ ? ॥83॥

यदि, उसे उस (धन) का लाभ न हुआ तो वह दानपति के घर रह जाएगा । सर्वथा वह तेरा नहीं है । (फिर) उसके दान या अदान में तेरा क्या ? ॥84॥

[लाभी] क्या पुण्यों का वारण करे या अपने निर्मल गुणों का निवारण करे या जो लाभ हो रहा हो उसे न ग्रहण करे ? बोल ! क्या करने से क्रोध न करेगा ? ॥85॥

तू केवल अपने पापी घट के लिए शोक तो करता नहीं प्रत्युत दूसरे पुण्यात्माओं के साथ स्पर्धा करना चाहता है ॥86॥

यदि, शत्रु का अनिष्ट हुआ तो तेरी तुष्टि-निमित्त क्या हुआ ? तू चाहे भर [और] अकारण [हो जाए, यह] होगा नहीं ॥87॥

और यदि तेरी इच्छा से [शत्रु का अनिष्ट] हो गया तो उसके दुःख से तुझे क्या सुख हुआ ? यदि, तेरा मनोरथ यों [इतने भर से] था [तो अनर्थ ही हुआ क्योंकि] इससे बड़ा अनर्थ और होगा भी क्या ? ॥88॥

यह भयंकर कंटिया [fish-hook] क्लेश-मछुए की लगाई हुई है, जिससे खरीद कर नरकपाल तुझे कुंभी-नरकों में पकाएंगे ॥89॥

स्तुति, यश और सत्कार न पुण्य के लिए हैं, न आयु के लिए हैं, न बल के लिए है, न आरोग्य के लिए हैं और न मेरे शरीर-सुख के लिए हैं ॥90॥

बुद्धिमान्, स्वार्थ को समझने वाले का [अधिक से अधिक] इतना ही स्वार्थ हो सकता है । [इससे अधिक अज्ञानोचित] मानसिक सुखाभिलाषी को तो मद्य-द्यूत आदि का भी सेवन करना होगा ॥91॥

यश के लिए [लोग] धन लुटाते हैं और प्राणत्याग भी करते हैं ।
[स्तुति के] अक्षरों को क्या खाया जाएगा ? मर जाने पर वह सुख
किसे ? ॥92॥

मिट्टी का घरौंदा टूटने से, जैसे बच्चा फूट-फूट कर रोता है, स्तुति
और यश की हानि से, मुझे मेरा चित्त भी वैसा ही लगता है ॥93॥

शब्द अचेतन है । उससे मेरी स्तुति हो नहीं सकती । किसी
दूसरे [=चेतन] का मुझसे अवश्य प्रेम है । बस, यही प्रीति [-वचनों]
का मूल है ॥94॥

मुझ में या दूसरे में होने वाली पराई प्रीति से मेरा क्या ? उसी
का ही वह प्रीति-सुख है । उसमें स्वल्प भी मेरा भाग नहीं ॥95॥

यदि, उस [पराये] के सुख से, मुझे सुख होता है तो सर्वत्र वह
[सुख] मेरा हो । फिर क्यों दूसरे की प्रसन्नता से सुखी लोगों में मुझे
सुख नहीं मिलता ? ॥96॥

मेरी स्तुति की गयी है, इस बात से, जो अपने को संतोष होता
है, उसका भी अपने से संबन्ध नहीं है, अतः वह कोरी बाल-कल्पना
है ॥97॥

स्तुति आदि मेरे कल्याण और संवेग का नाश करते हैं ।
गुणवानों में मत्सरता और पर-समृद्धि में द्वेष का कारण बनते हैं ॥98॥

इसलिए जो मेरी स्तुति का विघात करने में उद्यत हैं, वे मानो
मुझे नरकपात से बचाने में प्रवृत्त हैं ॥99॥

मुझ मुमुक्षु के लिए लाभ-सत्कार का बन्धन ठीक नहीं । जो
मुझे उस बन्धन से छुड़ाते हैं, उनसे मेरा द्वेष कैसे ? ॥100॥

दुःख (के द्वार में) प्रवेशाभिलाषी के लिए बुद्ध के वरदान से,
जो मानो कपाट बनकर आए हैं, उनसे मेरा द्वेष कैसे ? ॥101॥

इसने पुण्य में विघ्न डाला है—इस कारण से (भी) इसपर क्रोध करना ठीक नहीं, क्योंकि क्षमा के समान तप नहीं है और यही उसका अवसर है ॥102॥

यदि, मैं अपने दोष से क्षमा नहीं करता तो पुण्य का हेतु उपस्थित होने पर, मैंने ही यहाँ विघ्न डाला है ॥103॥

जो जिसके बिना नहीं होता और जिसके होने से होता है, वह उसका कारण है, उसे विघ्न कैसे कहा जा सकता है ? ॥104॥

समय पर आया याचक, दान में विघ्न नहीं डालता । प्रव्राजक का आ पहुँचना, प्रव्रज्या का विघ्न नहीं कहा जाता ॥105॥

संसार में याचक सुलभ हैं । अपकारी दुर्लभ हैं, क्योंकि मुझ निरपराध का कोई अपराध नहीं करता ॥106॥

इसलिए बिना-श्रम उपार्जित, घर में निधि के समान प्रादुर्भूत, बोधिचर्या में सहायक होने से, मुझे शत्रु की स्पृहा करनी चाहिए ॥107॥

इसलिए क्षमा का फल मेरा और इसका, दोनों का कमाया हुआ है । क्योंकि क्षमा का यही पहला कारण है, अतः इसे पहले (क्षमा का फल) देना चाहिए ॥108॥

यदि, इसके चित्त में क्षमा-साधना नहीं है, इसलिए शत्रु की पूजा न करनी चाहिए, तो (बोलो !) सिद्धि कारणभूत चित्त-हीन सद्धर्म की क्यों पूजा करते हो ? ॥109॥

इसके चित्त में अपकार है, यदि इस कारण शत्रु की पूजा न करूँ, तो बिना ऐसा किए मुझमें क्षमा कैसे हो सकती है ? (कारण कि क्षमा द्वेषी के प्रति द्वेष न करने ही से होती है ।) हित में उद्यत वैद्य के जैसे (व्यक्ति के प्रति द्वेष कहाँ जो क्षमा होगी) ! ॥110॥

वह दुष्टाशय है, अतएव उसके प्रत्यय से क्षमा उत्पन्न होती है । इससे वही क्षमा का हेतु है । उसकी सद्धर्म की भाँति, मुझे पूजा करनी चाहिए ॥111॥

इसीलिए भगवान् ने, कहा है—(चर्या के) क्षेत्र सत्त्व हैं, (चर्या के) क्षेत्र बुद्ध हैं । क्योंकि इनकी आराधना करके बहुत लोगों को सर्वोत्तम संपदा मिली ॥112॥

सत्त्वों तथा बुद्धों (की आराधना) से एक जैसे बुद्ध-गुणों की प्राप्ति होती है । फिर बुद्धों के प्रति, जैसा गौरव, वैसा सत्त्वों के प्रति नहीं, भला यह कौन-सी रीति है ? ॥113॥

चित्त का माहात्म्य, अपने आप नहीं किन्तु कार्य से होता है । (जो गुण बुद्धों की आराधना से होते हैं, वे ही सत्त्वों की आराधना से है,) अतः सत्त्व-महिमा (बुद्ध-महिमा के) समान हैं । फलतः वे (बुद्ध और सत्त्व) समान हैं ॥114॥

(सत्त्वों के प्रति मैत्री-चित्त (पुरुष) की, जो पूजा होती है, वह सत्त्वों का ही माहात्म्य है । बुद्ध के प्रति श्रद्धा होने से, जो पुण्य होता है, वह बुद्ध का ही माहात्म्य है ॥115॥

इसलिए जहाँ तक बुद्ध-गुणों की प्राप्ति का सम्बन्ध है, सत्त्व बुद्ध जैसे हैं । पर (बुद्धों के वे) गुणसमुद्र, जिनके एक अंश का पार पाना कठिन है, (उनसे तुलना करने पर) कोई (सत्त्व) बुद्धों के समान नहीं ॥116॥

गुणसर्वस्वता की अनन्य निधि (बुद्धों) के गुणों का अणु भी, यदि कहीं दिखाई दे, तो उसकी पूजा के लिए त्रैलोक्य (का उपहार) भी पर्याप्त नहीं ॥117॥

सत्त्वों में, (बुद्ध का वह) श्रेष्ठ अंश विद्यमान है, जिससे बुद्धगुणों का उदय होता है । इस अंश के योग्य सत्त्वपूजा होनी चाहिए ॥118॥

सत्त्वाराधन छोड़, निश्छल बन्धु और अपरिमित उपकारी (बुद्ध और बोधिसत्त्वों) के प्रति किए अपराधों की मार्जना और क्या होगी ? ॥119॥

जिनके लिए (बुद्ध और बोधिसत्त्व) शरीर काट (दे) डालते हैं, अवीची-नरक तक में (जिनके उद्धार के लिए) घुसते हैं, उनका हित करने में ही हित है । इसलिए, इन महापकारियों के प्रति भी सब प्रकार के कल्याण का ही आचरण करना चाहिए ॥120॥

स्वयं मेरे प्रभु (तथागत) की ही, जिनके लिए अपने शरीर तक की परवाह नहीं है, उन स्वामियों (के लाइलों) के प्रति, मैं मान करता हूँ—दास-भाव नहीं करता, यह क्यों ? ॥121॥

भगवान् को, जिनके सुख में सुख होता है, जिनकी पीड़ा में पीड़ा होती है, उनको संतुष्ट करना ही भगवान् को संतुष्ट करना है तथा उनका अपकार करना ही, भगवान् का अपकार है ॥122॥

चारों ओर से शरीर में आग लगने पर, जैसे सब काम-भोगों से भी सुख नहीं होता, वैसे प्राणियों को पीड़ा होने पर दयामय (बुद्धों) को किसी उपाय से भी सुख नहीं होता ॥123॥

इसलिए, मैंने जो प्राणियों को दुःख दे, उन महाकृपालुओं को दुःखित किया है, उस पाप की आज देशना करता हूँ । हे मुनियों ! मैंने जो सताया है, उसके लिए क्षमा करो ॥124॥

आज तथागतों की आराधना के लिए, मैं सर्वात्मभाव से लोक-सेवक हो रहा हूँ, लोग चाहे मेरा माथा कुचलें, चाहे मारें । लोकनाथ प्रसन्न हों ॥125॥

इसमें संदेह नहीं कि यह सब जगत् उन दयावन्तों का आत्मरूप है । प्राणियों के रूप में, ये वही दिखाई पड़ रहे हैं, फिर इनके प्रित अनादर कैसा ? ॥126॥

यही, तथागत की आराधना है, यही स्वार्थ की सम्यक् साधना है, यही लोक-दुःख का हरना है, इसलिए यही, मेरा व्रत हो ॥127॥

जैसे, अकेला राजपुरुष बहुतों की गत बना डालता है पर वे दूर की बात सोच बिगड़ते तक नहीं ॥128॥

कारण कि वह सचमुच अकेला नहीं है, राजा का बल उसका बल है। वैसे यदि, कोई दुर्बल भी अपराध कर बैठे तो उसका अपमान न करना चाहिए ॥129॥

क्योंकि कृपावन्त (बुद्ध) और नरकपाल, उसके बल हैं। अतः प्राणियों की आराधना उस प्रकार करनी चाहिए, जिस प्रकार कि सेवक, उग्र राजा की आराधना करता है ॥130॥

क्रोधित होकर राजा, क्या यह भी कर सकता है, जिससे कि नारकी व्यथा भोगनी पड़े, जो प्राणियों को दुःख देने से भोगनी पड़ती है ॥131॥

संतुष्ट होकर राजा क्या दे सकता है, जिसकी तुलना बुद्धत्व के साथ ही, जो कि प्राणियों को सुख देने से मिलता है ॥132॥

भावी बुद्ध होने की बात छोड़ो। यहीं, सत्त्वाराधन से होने वाले सौभाग्य, यश और सुखी जीवन को क्यों नहीं देखते ॥133॥

संसार में आवागमन करते हुए क्षमाशील रूप, आरोग्य, आनन्द, दीर्घ आयु और चक्रवर्ती (नृप के समान) समृद्धि-सुख का भोग करता है ॥134॥

सप्तम परिच्छेद वीर्य-पारमिता

इस प्रकार, क्षमाशील हो वीर्य का आचरण करना चाहिए क्योंकि बोधि वीर्य पर निर्भर है। वीर्य के बिना पुण्य नहीं होता, जैसे कि वायु के बिना गति नहीं होती ॥1॥

वीर्य क्या है ? पुण्याचरण का उत्साह। उसका विरोधी किसे (किसे) कहा जाता है ? आलस्य, कुविषयासक्ति, विषाद (=पस्त हिम्मती) और आत्मावज्ञा ॥2॥

सांसारिक दुःखों से अवैराग्य के कारण निठल्लेपन में मजा आता है और नींद में पड़े रहने की चाह होती है, इसी से आलस्य होता है ॥3॥

क्लेश-मछुओं के वश में जन्म-जाल में फंस कर (तू) मृत्यु के मुँह में आ पहुँचा है। क्या आज भी चेत नहीं ? ॥4॥

तू अपने संगी-साथियों को मारा जाता नहीं देखता ! (देखता है) फिर भी कसाई के भैंसे की भाँति ऊँघ रहा है ॥5॥

यम सब ओर से राह बन्द कर तेरी निगरानी कर रहा है फिर भी तुझे खाना कैसे अच्छा लगता है, सोना कैसे अच्छा लगता है, मौज करना कैसे अच्छा लगता है ? ॥6॥

सब सामग्री से सजकर जब मृत्यु झटपट आएगी तब असमय में आलस्य छोड़ कर भी क्या करेगा ? ॥7॥

यह नहीं मिला, इसका आरंभ किया, यह अधूरा रह गया, अकस्मात् मृत्यु आ गई, हाँ ! मैं नष्ट हो गया—यों सोचता हुआ ॥8॥

शोक-वेग से सूजी, आँसूभरी, लाल-लाल आँखों वाले, निराश बन्धुओं और यमदूतों के मुँह देखता हुआ ॥9॥

अपने पाप स्मरण कर संतप्त, नरकवासियों का क्रंदन सुन भय से, जब तेरे अंग मल-मूत्र में लत-पत हो जाएंगे, तू विह्वल हो जाएगा, तब क्या करेगा ? ॥10॥

में 'जीओल माछ' हूँ । इसलिए यहाँ ही मुझे भय करना ठीक है । पाप कर नरक के तीव्र दुःख से (डरने की बात का) कहना क्या ? ॥11॥

हे सूकुमार ! यहाँ गरम पानी छू जाने से, तुझे जलन होती है । नारकी करनी कर फिर क्यों इस प्रकार स्वस्थ बैठा है ? ॥12॥

बिना उद्यम फलाभिलाषी, सुकुमार, बहुपीडित, दुःखित, हाय ! अपने को अमर समझता हुआ तू मृत्यु से ग्रसा गया नष्ट हो रहा है ॥13॥

मनुष्य-जन्मरूपी नौका पाकर दुःखरूपी महानदी तरना । मूढ ! निद्रा का समय नहीं है । यह नौका फिर दुर्लभ है ॥14॥

श्रेष्ठ धर्मरति, जो अनन्त रति की धारा है, छोड़, दुःख-मूल उछल-कूद और हा-हा, ही-ही में तेरी रति कैसे ? ॥15॥

अविषाद, बलव्यूह, तात्पर्य, आत्मविधेयता, परात्मसमता और परात्मपरिवर्तन (से वीर्य-वृद्धि होती है) ॥16॥

मुझे बोधि कैसे मिलेगी (यदि, मैं विषाद करूँगा)—यह सोच विषाद न करना चाहिए । क्योंकि सत्यवादी तथागत ने, सच कहा है ॥17॥

कि जिन्होंने वीर्याचरणवश बोधिप्राप्ति की है, वे भी (अपने अतीत जन्मों में) डांस, मच्छर, मक्खी और कीड़े रह चुके हैं ॥18॥

फिर मैं तो जन्म से मनुष्य हूँ, हित और अहित जानने में समर्थ हूँ। सर्वज्ञ की नीति का अपरित्याग करने से, क्यों बोधि-लाभ न करूँगा ॥19॥

यदि, मुझे भय होता हो कि (बोधि के निमित्त) हाथ-पैर आदि देने पड़ेंगे, तो वह अविवेक के कारण मेरा गौरवलाघव (=ऊँच-नीच) न समझने की मूढ़ता है ॥20॥

(संसार-कारागार में) अनेक बार असंख्य कल्पकोटियों तक (मैं) छेदा जाऊँगा, भेदा जाऊँगा, जलाया जाऊँगा और काटा जाऊँगा, पर बोधि-लाभ न होगा ॥21॥

यह मेरा बोधि-साधना का दुःख, (अंग के भीतर) टूटे हुए काँटे की पीड़ा को दूर करने के लिए, उस (काँटे) के निकालने के दुःख के समान परिमित है ॥22॥

सभी वैद्य, जिन क्रियाओं से नीरोग करते हैं, उनमें दुःख होता है। इसलिए बहुत दुःख दूर करने के लिए थोड़ा दुःख सहना ही होगा ॥23॥

श्रेष्ठ वैद्य, यह आवश्यक क्रिया नहीं (करने) देता। (वह) मधुर उपचार से चिकित्सा करता है ॥24॥

आदि में बुद्ध शाक आदि का दान करने में लगाते हैं। फिर धीरे-धीरे ऐसा करते हैं कि (आदमी) अपना मांस तक दे सकता है ॥25॥

जब अपने मांस में भी शाक-बुद्धि हो जाती है, तब मांस-हड्डी का त्याग करना क्या दुष्कर? ॥26॥

निष्पाप होने के कारण (शरीर से) दुःखी नहीं होता और पंडित होने के कारण मन से दुःखी नहीं होता, क्योंकि शरीर में पाप से और मन में मिथ्या कल्पना से पीड़ा होती है ॥27॥

पुण्य से शरीर सुखी रहता है, पांडित्य से मन सुखी रहता है । परोपकार के लिए संसार में रहते हुए कृपालु को, किससे खेद हो सकता है ॥28॥

अतीत के पापों को क्षीण करता हुआ, पुण्य-समुद्रों का संग्रह करता हुआ (बोधिसत्त्व) बोधिचित्त के बल से ही श्रावकों (=हीनयानियों) की अपेक्षा भी शीघ्र (मुक्त हो) जाता है ॥29॥

इस प्रकार, सब खेद और थकावट को दूर करने वाले बोधिचित्तरूपी रथ को पाकर, सुख के बाद सुख पाता हुआ, कौन सचेतन विषाद करेगा ? ॥30॥

सर्वप्राणि-हित के निमित्त (चतुरंगिणी) सेना (चाहिए । जिसके चार अंग ये हैं—) छन्द =पुण्याभिलाष, स्थाम =अविचलितभाव, रति =सत्कर्मपरायणता और मुक्ति =विलंब (Postponement) । दुःख के भय से पुण्यमाहात्म्य की भावना करते हुए छन्द करना चाहिए ॥31॥

इस प्रकार, विपक्ष अर्थात् आलस्य आदि का नाश कर उत्साह की वृद्धि करनी चाहिए (जिसके साधन ये हैं—) छन्द-बल (=शक्ति), मान-बल, रति-बल, त्याग-बल, तात्पर्य (=तत्परता)—बल और वशिता (=आत्मविधेयता)—बल ॥32॥

अपने-पराये अपरिमित दोषों का मुझे नाश करना है । और एक-एक दोष के नाश में अनन्त कल्प लगते हैं ॥33॥

उन दोषों के नाश करने में मेरा लेशमात्र भी उत्साह नहीं दीखता । अपार दुःख सहते मेरी छाती क्यों नहीं फटती ? ॥34॥

अपने-पराये के लिए मुझे अपार गुण उपार्जित करने हैं । और एक-एक गुण का अभ्यास अनन्त कल्पों में हो भी पाता है और नहीं भी ॥35॥

गुण के लेश का भी मैंने कभी अभ्यास नहीं किया । बड़ी कठिनाई से, यह अद्भुत जन्म मिला और अकारण गया ॥36॥

न भगवान् की पूजा के महोत्सव का सुख मुझे मिला । न मैंने धर्म का सत्कार किया । न दरिद्रों का मनोरथ सफल किया ॥37॥

न भीतों को अभय दिया । न दुःखियों को सुखी किया । केवल माँ को दुःख देने के लिए ही मैं गर्भरूपी काँटा बना ॥38॥

पहले मुझे धर्म-छंद न था, इसलिए आज यह विपत्ति ऊपर आ पड़ी । (अब फिर) कौन धर्म-छंद छोड़े ? ॥39॥

मुनि ने, छन्द को सब पुण्यों का मूल कहा है । निरन्तर विपाकफल (=कर्मफल) की भावना को, उस (छन्द) का भी मूल बताया है ॥40॥

पापियों को (कायिक)-दुःख, मानसिक-दुःख, विविध भय और मनोरथ-विफलताएँ होती हैं ॥41॥

जहाँ-जहाँ पुण्यवान् जाता है, उसका मनोरथ, उसके पुण्य के कारण, सफलता के अर्घ से पूजित होता है ॥42॥

जहाँ-जहाँ पापी जाता है, उसका सुख-मनोरथ, उसके पापों के कारण, दुःख-शास्त्रों से छिन्न-छिन्न हो जाता है ॥43॥

पुण्यों से (जीव) अत्यन्त सुगंधित के कमलों के गर्भ में पहुँचते हैं, वहाँ मीठे बुद्धवचनों के आहार से, उनके (शरीर की) द्युति बढ़ती है, बुद्ध-किरणों से, जब वे कमल खिलते हैं, तब वे अपने शोभायमान शरीर के साथ निकलते हैं, (इस प्रकार सुखावती में) भगवान् (अमिताभ) के सामने, उनके पुत्र बन कर रहते हैं ॥44॥

बारंबार पापों के कारण, यमदूत (जीव की) खाल खींचते हैं, वह दुःख से चिल्लाता है, (फिर वे) उसके शरीर को आग में पिघले

ताँबे से नहलाते हैं, तपाई हुई बरछियों और तलवारों के शत-शत प्रहारों से, उसका मांस टुक-टुक करते हैं, (ऐसी दशा में वह) अत्यन्त तपी धरती पर गिरता है ॥45॥

अतः आदर के साथ इस प्रकार भावना करके पुण्य-छन्द करना उचित है । वज्रध्वज-सूत्र में कही विधि के अनुसार समारंभ-पूर्वक मान की भावना करनी चाहिए ॥46॥

(कार्य का) आरंभ करने या न करने में (साधन-)सामग्री का विचार पहले करना चाहिए । आरंभ न करना अच्छा है, पर आरंभ करके छोड़ना नहीं ॥47॥

(1) दूसरे जन्म तक वही (प्रतिज्ञा-भंग का) अभ्यास बना रहता है और (2) (इस) पाप से दुःख बढ़ता है । (3) वह (आरब्ध कार्य) तो पूरा नहीं होता, (4) उतना समय भी जाता है तथा (5) कोई और काम भी नहीं होता । (इस प्रकार, आरंभ करके छोड़ने में पाँच दोष होते हैं) ॥48॥

कर्म, उपक्लेश (=रागादि दोष) और शक्ति, इन तीन विषयों में मान करना चाहिए । अकेले मुझे ही करना है—इसे कर्ममान कहते हैं ॥49॥

लोग क्लेश के वश में हैं, अपना स्वार्थ नहीं साध पाते । इसलिए मुझे इनका [मनोरथ सफल] करना है । इन लोगों जैसा, मैं असमर्थ नहीं ॥50॥

मेरे होते हुए भी दूसरा पसीना बहाता है । यदि, मानवश मैं यह नहीं करता तो मेरे मान का नष्ट हो जाना अच्छा है ॥51॥

पनिहा सांप पाकर कौआ भी गरुड बन जाता है । अपना मन कच्चा होने पर छोटी-मोटी आपत्ति भी आ दबोचती है ॥52॥

माथे पर हाथ रखकर बैठे निकम्मे पर सहज ही आपत्तियाँ आती रहती हैं। हिम्मती और हाथ-पैर चलाने वाले को बड़े-बड़े नहीं जीत पाते ॥53॥

इसलिए दृढ़ चित्त से [मैं] आपत्ति पर आपत्ति ढहाऊँगा। आपत्ति से पराजित हो गया तो मेरी त्रैलोक्य-विजय की महत्वाकांक्षा का उपहास होगा ॥54॥

मुझे सब पर विजय पाना है। मुझे कोई नहीं जीत सकता। यह मान मुझे ही रखना है। मैं जिनसिंह का पुत्र हूँ ॥55॥

जो प्राणी मान से पराजित हो जाते हैं, वे मानी नहीं, दीन हैं। मानी शत्रु के वश में नहीं जाता। वे मानरूपी शत्रु के वश में हैं ॥56॥

मान से (कितने ही) दुर्गति को प्राप्त हुए हैं। (कितने ही) मनुष्य जन्म में भी निरानन्द हैं। (कितने ही) दूसरों के टुकड़ों पर जीते हैं, दास बने हैं, विवेक खो बैठे हैं। (कितने ही) वीभत्स, कृश ॥57॥

सर्वतः तिरस्कृत हैं। बेचारों में मान की अकड़ फिर भी है। उन्हें भी यदि मानियों में गिना जाए, तो बोलो कैसे लोग दीन हैं? ॥58॥

जिनमें, मान-शत्रु के विजय के लिए मान है, जो उस प्रभावशाली मान-शत्रु को मार कर, उस विजय का इष्ट फल जगत् को चखाते हैं, वे मानी हैं, विजयी हैं और वे ही शूर हैं ॥59॥

क्लेशों के बीच पड़ सहस्रगुना दृप्त होना चाहिए। मृग-समूहों से सिंह की भाँति क्लेश-समूहों से पराजित न होना चाहिए ॥60॥

बड़ी से बड़ी विपत्ति में आँख रस ग्रहण नहीं करती। इसी प्रकार, विपत्ति में पड़कर भी क्लेश-वशीभूत न होना चाहिए ॥61॥

जो काम आ पड़े उस काम में (द्यूत) क्रीडा से मिलने वाले सुख के लंपट (जुआरी) की भाँति तल्लीन होना चाहिए, उसी काम में रमना चाहिए, उससे ऊबना न चाहिए ॥62॥

सुख हो या न हो, कर्म सुख के लिए ही किया जाता है। कर्म ही जिसके लिए सुख है, वह अकर्मण्य रह कर कैसे सुखी रह सकता है? ॥63॥

संसार में कामों (के भोग) से तृप्ति नहीं होती यद्यपि वे छुरे की धार में लगे मधु के समान हैं (कि जो चाटे उसी की जीभ कटे) फिर भला परिणाम में मधुर, मंगलमय, पुण्य के अमृत से तृप्ति हो तो कैसे? ॥64॥

कर्म के समाप्त होने पर उस कर्म (के आनन्द) में डूबे रहना चाहिए। जैसे दोपहर का तपा हाथी (जिस) तालाब को पाकर पहले-पहल डुबकी लगाता है (बाद में भी उसी के आनन्द में डूबा रहता है) ॥65॥

सामर्थ्य की कमी के कारण (कुछ समय तक के लिए काम का छोड़ना आवश्यक हो तो) फिर करने के विचार से छोड़े। उत्तरोत्तर (उस कार्य के प्रति) तृष्णा (रखने) के साथ, उसे अच्छी तरह पूर्ण करके ही छोड़े ॥66॥

शिक्षित शत्रु से तलवार की लड़ाई लड़ने की तरह क्लेशों की चोटों (से अपने) को बचाना चाहिए और क्लेशों पर चोटें करनी चाहिए ॥67॥

उस (युद्ध) में, जैसे गिरी तलवार भय से झटपट उठाई जाती है, वैसे ही नरकों का स्मरण करते हुए छूटी हुई स्मृति की तलवार उठानी चाहिए ॥68॥

जैसे लोहू पाकर विष शरीर में फैल जाता है, वैसे ही छिद्र (=स्मृति का अभाव) पाकर दोष चित्त में फैल जाता है ॥60॥

तैल-पात्रधारी (व्यक्ति), तलवार खींचे हुए पुरुषों के बीच, (तैल) गिरने से मृत्यु होगी—इस भय से, जिस प्रकार तत्पर (=सावधान) रहता है, उसी प्रकार व्रती को तत्पर रहना चाहिए ॥70॥

इसलिए जैसे गोद में साँप आ पड़ने पर (मनुष्य) झटपट उठ पड़ता है, वैसे नींद और आलस्य आने पर झटपट प्रतिकार करना चाहिए ॥71॥

एक-एक भूल पर खूब पछताकर सोचे कि कैसे करूँ, जिसमें यह [भूल] फिर न हो ॥72॥

इन [दोषों की] अवस्थाओं में, कैसे स्मृति निरंतर बनी रहे—इसके निमित्त या तो [सत-] संग की या उचित [दंड-] कर्म की कामना करे ॥73॥

अप्रमाद-कथा का स्मरण करते हुए अपने आपको इस प्रकार तैयार रखे, जिस प्रकार सर्वत्र कार्यारंभ से पूर्व [मनुष्य] तैयार रहता है ॥74॥

जिस प्रकार रुई इधर-उधर डोलने में वायु के वश होती है, उसी प्रकार उत्साह के वश में होना चाहिए । ऐसा होने से ऋद्धि-सिद्धि होती है ॥75॥

अष्टम परिच्छेद ध्यान-पारमिता

इस प्रकार, उत्साह बढ़ाकर मन को समाधि में स्थापित करना चाहिए, क्योंकि मनुष्य की स्थिति क्लेश की दाढ़ों में होती है ॥1॥

कायविवेक और चित्तविवेक से विक्षेप नहीं होता । इसलिए लोक [संसर्ग] का त्याग कर वितर्क-परित्याग करना चाहिए ॥2॥

स्नेह और लाभ आदि की तृष्णा के कारण लोक [संसर्ग] का परित्याग नहीं हो पाता । इसलिए इनका परित्याग करने के लिए विद्वान् को यों भावना करनी चाहिए— ॥3॥

समाधि और प्रज्ञा से संयुक्त [पुरुष] क्लेशों का नाश करता है— ऐसा समझ पहले समाधि खोजनी चाहिए, और वह लोक-रति की अपेक्षा न रखने से होती है ॥4॥

अनित्यों से, किस अनित्य का स्नेह होना उचित है कि सहस्रों जन्मों में प्रिय के दर्शन तक नहीं हो पाते ॥5॥

बिना देखे मन नहीं लगता और समाधि में स्थिति नहीं रहती तथा देख कर भी तृप्ति नहीं होती—पहले जैसी ही अभिलाषा रहती है ॥6॥

प्रिय के समागम की इच्छा से [मनुष्य] तत्व नहीं देखता, संवेग से हीन हो जाता है, उस [वियोग-] शोक से जलता रहता है ॥7॥

उसकी चिन्ता में बारंबार आयु झट से क्षीण होती रहती है । अनित्य मित्र के कारण नित्य-धर्म की हानि होती है ॥8॥

चरित्र में जो पृथग्जनों के समान है, वह निश्चय ही दुर्गति को जाता है और जो समान नहीं, उसे [पृथग्जन] चाहते नहीं। अतः पृथग्जनों से लाभ क्या ? ॥9॥

क्षण में मित्र हो जाते हैं, क्षण में शत्रु हो जाते हैं। जहाँ संतुष्ट होना चाहिए, वहाँ कुपति होते हैं। पृथग्जनों को सन्तुष्ट करना कठिन है ॥10॥

हित की कहने से कोप करते हैं ? मुझे हित करने से रोकते हैं। यदि, उनकी न सुनी तो कुपित होते हैं [जिसके फलस्वरूप] दुर्गति को प्राप्त होते हैं ॥11॥

उत्कृष्ट से ईर्ष्या, समान से कलह, हीन से मान, स्तुति से अहंकार, निन्दा से द्वेष [होता है]। पृथग्जन से हित होता ही कब है ? ॥12॥

आत्म-स्तुति, पर-निन्दा, सांसारिक रति-चर्चा—इसी प्रकार का कोई न कोई पाप पृथग्जन से पृथग्जन को होता है ॥13॥

ऐसा ही एक का दूसरे के साथ से होता है। [यह पृथग्जन का साथ वस्तुतः] अनर्थ का साथ है। इसलिए सुख से, क्लेश-रहित सबसे अकेले विहार करूँगा ॥14॥

पृथग्जन से दूर भागता रहे। आ पहुँचे तो संस्तव-अनुबन्ध [flattering = भड़ैती] द्वारा नहीं, प्रत्युत् उदासीन संत जैसे [ढंग से] प्रीति-व्यवहार करे ॥15॥

भौरे की भाँति फूल से मधु लेने की समान केवल धर्म-प्रयोजनक अर्थ लेकर सर्वत्र अपरिचित एवं नवागन्तुक की भाँति विहार करूँगा ॥16॥

मैं लाभी हूँ, सत्कृत हूँ, मुझे बहुत लोग चाहते हैं—ऐसा सोचने वाले मनुष्य को मौत आने पर बड़ा डर लगता है ॥17॥

सुख से मोहित मन की जिस-जिसमें रति होती है, वह-वह सहस्रगुणित दुःख होकर उपस्थित होता है ॥18॥

इसलिए बुद्धिमान् को उस (रति) की इच्छा न करनी चाहिए । इच्छा से भय होता है । यह (भय) अपने आप (आता-) जाता है (यह सोचकर) धैर्य धर कर प्रतीक्षा करनी चाहिए ॥19॥

बहुत से लाभी हुए और बहुत से यशस्वी । लाभ और यश के साथ, वे कहाँ गये, पता नहीं ॥20॥

स्तुति की जाने पर, मैं क्यों प्रसन्न होता हूँ [जबकि] दूसरे मेरी ही निन्दा कर रहे हैं । निन्दा की जाने पर [मैं] क्यों विषाद करता हूँ [जबकि] दूसरे मेरी ही प्रशंसा कर रहे हैं ॥21॥

प्राणी नाना-अधिमुक्तिक (विभिन्न श्रद्धा-विश्वास वाले) होते हैं । (सबको) बुद्ध भी न प्रसन्न रख पाये, फिर मेरे जैसे अज्ञानी क्या (प्रसन्न रख पायेंगे ?) दुनिया की चिंता से (लाभ) क्या ? ॥22॥

(पृथग्जन) अलाभी प्राणी की निन्दा करते हैं । लाभी के प्रति खीझते हैं । स्वभावतः उनकी संगति से दुःख होता है । उनसे (मन को) शांति हो तो कैसे ? ॥23॥

पृथग्जन किसी का मित्र नहीं होता—ऐसा तथागतों का कथन है । क्योंकि पृथग्जन का प्रेम बिना स्वार्थ के नहीं होता ॥24॥

अपने स्वार्थ की भावना से, जो प्रीति होती है, वह अपने ही लिए होती है । जैसे द्रव्यनाश से, जो दुःख होता है, वह सुख की हानि करने के कारण होता है ॥25॥

वृक्ष खीझते नहीं । जतन से आराधना नहीं करनी पड़ती । उनके सहवास से सुख होता है । मेरा कब उनके साथ सहवास होगा ? ॥26॥

सूने देवालय में, वृक्षों के तले, गुहाओं में ठहर कर, पीछे न देखते हुए, कब इस दुनिया के झंझट से दूर हो विचरूंगा ? ॥27॥

सहज ही फैले हुए प्रदेशों में, जिनमें मेरा कुछ नहीं है, कब स्वच्छन्द विचरते हुए विहार करूंगा ॥28॥

केवल मिट्टी के पात्र की संपत्ति के साथ, चोरों के काम न आने वाला चीवर पहने, शरीर को बिना लुकाये-छिपाये, निर्भय हो कब विहार करूंगा ? ॥29॥

शरीर की अपनी जगह (श्मशान) जाकर दूसरे कंकालों के साथ सड़ने-गलने वाले अपने शरीर की कब तुलना करूंगा ॥30॥

यही मेरा शरीर इस प्रकार सड़-गल जायगा कि जिसकी गंध से श्रृगाल भी पास नहीं फटकेंगे ॥31॥

इस अखंड शरीर के साथ भी उत्पन्न अस्थि-खंड अलग-अलग हो जायेंगे । प्रियजनों (से अलगाव) की तो बात ही क्या ? ॥32॥

अकेला ही प्राणी जनमता है और अकेला ही मरता है । दूसरा उसका दुःख नहीं बँटाता । (इसलिए पुण्य में) विघ्न डालने वाले प्रियों से क्या ? ॥33॥

राह (शाम को) बसेरा लेता है, वैसे ही भव के राही के लिए जन्म बसेरा लेना है ॥34॥

लोग रो-पीट कर, जब तक चार पुरुषों द्वारा उठा नहीं ले जाते, तब तक वन की राह पकड़नी चाहिए ॥35॥

राग-द्वेष न होने से लोगों के लिए पहले से ही मृत शरीरधारी अकेला ही है, (उसे) मरते हुए सोच नहीं होता ॥36॥

(मरण-काल में) कोई आस-पास रहते सोच करते हुए, उसे व्यथा नहीं पहुँचाते । कोई उसकी बुद्ध आदि की अनुस्मृतियों में विक्षेप नहीं कर पाता ॥37॥

इसलिए रमणीय, दुःखरहित, कल्याणजनक, सब विक्षेपों को शांत करने वाली एकाकिता का मुझे सर्वदा सेवन करना चाहिए ॥38॥

दूसरी सब चिन्ताओं से मुक्त, अपने मन की एकाग्र भावना के साथ, चित्त की समाधि और दमन का यत्न करूँगा ॥39॥

इहलोक और परलोक में काम द्वारा अनर्थ होता है । इहलोक, परलोक एवं नरकादि में वध, बंधन और छेदन द्वारा (वह अनर्थ होता है) ॥40॥

जिनके लिए अनेक बार दूत-दूतियों के हाथ जोड़े, पहले जिनके लिए न पाप की परवाह की, ॥41॥

न बदनामी की; अपने आपको भय में डाला, पैसा भी लुटाया तथा जिन्हें लिपटा लेने में उत्तम सुख मिला; ॥42॥

वही, ये हड्डियाँ, दूसरी नहीं, अपने वश में हैं, दूसरा कोई उन्हें अपनाने वाला नहीं है । इनसे मन-भर लिपट कर क्यों सुखी नहीं होते ? ॥43॥

जतन से उठाने पर भी, जो मुँह लाज से नीचे झुक जाता था, घूँघट में छिपा रहता था । (इसलिए) पहले या तो दिखता था या अनदेखा रह जाता था ॥44॥

तेरी (इस) व्यथा को न सहते हुए गिद्ध ने उस मुँह को आज उघाड़ दिया है । देख, अब क्यों भागता है ? ॥45॥

हे ईर्ष्यालु ! कहीं दूसरे की निगाह न पड़ जाये, (इसलिए) जिसकी रक्षा करता था; उसे आज गिद्ध तक खा रहे हैं, क्यों नहीं बचाता ? ॥46॥

इसे मांस-पुंज समझ गिद्धों तथा दूसरे (जीवों) ने खा डाला । (तुझसे) दूसरों के भोजन की माला, चन्दन और आभूषणों से पूजा की जाती रही ॥47॥

इस प्रकार, निश्चल दीखते कंकाल से, तुझे डर है पर किसी बैताल से संचालित अर्थात् सजीव कंकाल से डर क्यों नहीं ? ॥48॥

एक ही भोजन से, इन (प्राणियों में लाला (=लार) और मल बनते हैं । उनमें मल तुझे नापसन्द है, पर लाला-पान क्यों पसन्द है ? ॥49॥

मल से मोहित कामियों का तकियों से मन नहीं भरता, जिनमें कि रुई भरी है, जो छूने में नरम हैं, जिनमें बदबू भी नहीं आती ॥50॥

जो (मलमूत्र) ढका है, उससे यह प्रेम ! और जो ढका नहीं, उस पर प्रेम नहीं । यह क्यों ? यदि, यह निष्प्रयोजन है तो ढके के प्रति किस (प्रयोजन) से रगड़ ? ॥51॥

यदि, तेरा अशुचि से प्रेम नहीं तो दूसरे को क्यों गले लगाता है ? वह नसों से बंधा, मांस के कीचड़ से लीपा गया, हड्डियों का पिंजड़ा ही तो है ॥52॥

तेरे पास अपना ही मल बहुत है, उसी से संतोष कर ले । हे मलभक्षी ! मल की दूसरी धौंकनी को भूल जा ॥53॥

“मुझे इसके मांस से प्रेम है” यह समझ यदि तेरी देखने और छूने की इच्छा है तो स्वभाव से अचेतन मांस को क्यों चाहता है ? ॥54॥

जिसे चाहता है, उस चित्त को देखा-छुआ नहीं जा सकता । जिसे देखा-छुआ जा सकता है, वह (-शरीर) जानता नहीं । तब क्यों बेकार आलिंगन करता है ॥55॥

“दूसरे का शरीर मलमय है”—यह तू नहीं जानता सो अचरज नहीं । तू स्वयं मलमय है और उसे तू नहीं जानता, यही अचरज है ॥56॥

मेघ से अनाच्छादित सूर्य की किरणों से खिले नवीन कमल को छोड़ मल के शौकीन चित्त का मलपंजर में रमना क्या (उचित) है ? ॥57॥

यदि, (तू) मल से सनी मिट्टी आदि को नहीं छूना चाहता तो, जिस शरीर से वह मल निकलता है, उसे क्यों छूना चाहता है ? ॥58॥

यदि, तेरा अशुचि से प्रेम नहीं तो क्यों दूसरे को गले लगाता है । वह अशुचि के क्षेत्र (=उदर) से उत्पन्न और उस (अशुचि) से वर्धित बीज ही तो है ॥59॥

मल से उत्पन्न अशुचि कीट को नहीं चाहता यद्यपि उसमें मल का लवलेश ही है । पर मल से उत्पन्न शरीर ही को चाहता है, जिसमें मल की बहुलता है ॥60॥

हे मलभक्षी ! तुझे अपने मल से तो घृणा है ही नहीं, साथ में मल के भांडों को और चाहता है ॥61॥

मनोरम कर्पूर आदि अथवा शालि, अन्न और व्यंजन मुँह में डाल कर उगल देने से भूमि भी अपवित्र मानी जाती है ॥62॥

यदि, इस प्रत्यक्ष अशुचि पर विश्वास नहीं करता तो श्मशान में पड़े दूसरे घोर शरीरों को भी देख ॥63॥

जिस (शरीर) से खाल उधेड़ने पर बड़ा डर लगता है, उसमें ही फिर जान-बूझ कर तेरा प्रेम कैसे ? ॥64॥

शरीर पर लगा यह गन्ध चन्दन का ही है, दूसरे का नहीं । गंध दूसरे का है, पर उससे प्रेम दूसरे पर । यह क्यों ? ॥65॥

सहज दुर्गन्धित इस (शरीर) से प्रेम न होता तो (प्राणियों) का कल्याण होता । पता नहीं अनर्थप्रिय लोग, उस पर गंध क्यों लगाते हैं ? ॥66॥

यदि, चन्दन सुगंध वाला है तो इसमें शरीर का क्या ? गन्ध दूसरे का है और उससे प्रेम दूसरे पर । यह क्यों ? ॥67॥

बड़े-बड़े केश-नख, मैले-मैले पीले दाँतों से युक्त, मल की कीचड़ से लतपत शरीर स्वभाव से ही यदि भयंकर है, ॥68॥

तो यत्न से उसका संस्कार करना आत्मघात के लिए शस्त्र का संस्कार करने जैसा है । वह क्यों करते हो ? (हन्त !) अपने आप को मोहित करने में लगे पगलों से पृथ्वी व्याप्त है ॥69॥

श्मशान में थोड़े से कंकालों को देख, तुझे घृणा होती है पर चलते-फिरते कंकालों से पूर्ण ग्रामरूपी श्मशान में (तू) रमता है ॥70॥

इस प्रकार का मैला (प्रियतमा का शरीर) भी बिना मूल्य नहीं मिलता । उसके लिए धन कमाने का क्लेश और नरक आदि में पीड़ा होती है ॥71॥

बच्चे में कमाने की शक्ति नहीं होती, वह यौवन में सुखी हो तो कैसे ? कमाने में यौवन चला जाता है । बूढ़े को कामोपभोगों से लेना-देना क्या ? ॥72॥

कुत्सित कामना वाले कितने ही दिन भर काम कर थके हुए शाम को घर आकर मुर्दे के समान सोते हैं ॥73॥

दूसरे युद्ध-यात्राओं में, प्रवास के क्लेश से दुःखित, चाहते हुए भी स्त्री-पुत्रों को बरसों तक नहीं देख पाते ॥74॥

काम से मोहित हो, जिस (सुख) के लिए अपने आपको बेच सा डाला, वह न मिला। पर आयु दूसरे की चाकरी में गवां दी ॥75॥

जिन्होंने अपने आपको बेच दिया है तथा और लोग जिन्हें सदा आने-जाने का काम पड़ता है, उनकी स्त्रियाँ जंगल में वृक्ष आदि के तले प्रसव करती हैं ॥76॥

कामों से अभिभूत मूढ़ जन जीविका के लिए जान को जोखिम में डालने वाले, युद्ध के भीतर जाते हैं, मान के लिए दास बनते हैं ॥77॥

कितने ही कामी काट डाले जाते हैं, दूसरे सूली पर चढ़ा दिये जाते हैं, (कितने ही) जलाये जाते और बरछियों से मारे जाते दिखायी देते हैं ॥78॥

अर्थ को न अन्त होने वाला अनर्थ समझा। इसके अर्जन में दुःख है, रक्षण में दुःख है और नाश में दुःख है। धन में जिनका मन फँसा है, उन्हें बेचैनी बनी रहती है। भव-दुःख से छुटकारा पाने की, उन्हें छुट्टी नहीं मिलती ॥79॥

इस प्रकार, कामियों को अनर्थ बहुत और सुख बहुत कम होता है। उनकी दशा, उस पशु जैसी होती है, जो गाड़ी खींचते-खींचते घास में मुँह मार लेता है ॥80॥

उस जरा से मजे के लिए, जो पशु के लिए भी दुर्लभ नहीं है, हतभागी (मनुष्य) अत्यन्त दुर्लभ क्षणसंपत्ति का नाश कर डालता है ॥81॥

नश्वर, निकृष्ट, नरकादि में पतनशील (इस भौतिक) शरीर के लिए, जो यह सदा से परिश्रम किया है, उस श्रम के कोटिशत भाग से बुद्धत्व लाभ होता है ॥82॥

बोधिचर्या के दुःख से कामियों को अधिक दुःख सहना होता है, पर उन्हें बोधि नहीं मिलती ॥83॥

जब नरक दुःखों का स्मरण होता है तब जान पड़ता है कि दुःख देने में कामों की बराबरी न कोई शस्त्र कर सकता है, न विष, न अग्नि, न प्रपात (=भृगुपतन) और न शत्रुगण ॥84॥

इस प्रकार, कामों से उद्विग्न होकर कलह और दुःख से रहित, शांत वन-भूमियों पर विवेकारामता उत्पन्न करनी चाहिए ॥85॥

चन्द्रकिरणों के चन्दन से शीतल, महलों के समान विस्तीर्ण, रमणीय शिलातलों पर निःशब्द, सौम्य वन-पवन से वीजित धन्य लोग टहलते और परहित का चिंतन करते हैं ॥86॥

अनासक्त (पुरुष) जहाँ कहीं शून्यागार, वृक्षतल अथवा गुआओं में यथेष्ट समय तक विहार कर परिग्रह और आरक्षण के खेद से मुक्त हो यथाकाम विचरता है ॥87॥

किसी के बन्धन में न फंसा हुआ, स्वतन्त्र विचरने वाला, अनागारिक जिस संतोषसुख का भोग करता है, वह इन्द्र के लिए भी दुर्लभ है ॥88॥

इस प्रकार की विधियों से विवेक-गुण की भावना द्वारा वितर्कों का शमन कर बोधिचित्त की भावना करनी चाहिए ॥89॥

पहले आदर से परात्मसमता की यों भावना करनी चाहिए— जैसे मैं अपनी पालना करता हूँ, वैसे ही मुझे सबकी पालना करनी चाहिए (क्योंकि) जैसे दुःख (अपने को बुरा) और सुख (अपने को अच्छा लगता) है, वैसे ही सबको (दुःख बुरा और सुख अच्छा लगता) है ॥90॥

शरीर को एक मान कर पाला जाता है, यद्यपि उसमें हाथ आदि के अनेक भेद रहते हैं। उसी प्रकार, इस सब जगत् का पालन करना है, यद्यपि उसमें भेद अनेक हैं पर सुख-दुःख (में सुखी-दुःखी होने का, उसका) स्वभाव एक है ॥91॥

यद्यपि दूसरों के शरीरों में, मेरा दुःख पीड़ा नहीं पहुँचाता फिर भी वह मेरे लिए दुःख ही है क्योंकि मुझे अपने से स्नेह है, जिससे वह सहा नहीं जाता ॥92॥

वैसे ही, यद्यपि दूसरे के दुःख का अनुभव मुझे अपने आप नहीं होता, फिर भी उसके लिए वह दुःख (ही) है। क्योंकि अपने से स्नेह होने के कारण, वह उससे सहा नहीं जाता ॥93॥

जैसे, मैं अपना दुःख दूर करता हूँ, वैसे ही मुझे दूसरों का दुःख दूर करना है; क्योंकि (दुःख तो) दुःख ही है। मुझे दूसरे जीवों पर अनुग्रह करना है, क्योंकि जैसा जीव मैं हूँ, वैसे ही वे भी हैं ॥94॥

जब सुख जैसा अपने को प्रिय होता है, वैसे ही दूसरे को, तब अपनी विशेषता क्या? जो उसी के लिए सुख का यत्न? ॥95॥

जब भय और दुःख, जैसे मुझे प्रिय नहीं, वैसे ही दूसरों को भी प्रिय नहीं, तब अपनी विशेषता क्या, जो उसकी रक्षा करता हूँ, दूसरों की नहीं? ॥96॥

यदि, पराए दुःख से मुझे पीड़ा नहीं होती, इसलिए उसकी रक्षा नहीं की जाती, तो आगामी (=परलोक में) शरीर से मुझे पीड़ा नहीं होती, फिर उसकी रक्षा क्यों? ॥97॥

तब [परलोक में] भी मैं ही हूँगा [इसलिए रक्षा करता हूँ, यदि ऐसा कहो तो] यह कल्पना मिथ्या है, क्योंकि और ही मरता है और और ही जन्म लेता है ॥98॥

“जिसका जो दुःख, वह उससे अपने को बचाए [दूसरे को उससे क्या ?]—यदि, ऐसा मानो तो हाथ को पैर का दुःख नहीं होता, फिर क्यों उससे पैर की रक्षा करते हो ? ॥99॥

यदि, अहंकारवश यह [विचार] उत्पन्न होता है तो वह असंगत है और जो असंगत है, उसे यथाशक्ति दूर करना चाहिए, वह अपना हो तो और पराया हो तो ॥100॥

संतान और समुदाय का [एकत्व] पंक्ति और सेना की भाँति मिथ्या है । इसलिए, जिसका [यह] दुःख है, वह नहीं [ही] है, फिर वह दुःख किसका अपना हो सकता है ॥101॥

साधारण रूप से सभी दुःखों का स्वामी कोई [आत्मा] नहीं है । उनमें [अपने-पराये होने का] नियम किसने किया ?” “दुःख दुःख है”—बस इतने भर से उनका निवारण करना चाहिए ॥102॥

दुःख क्यों दूर करना ? (क्यों दुःख दूर करना चाहिए इसमें) सबका एक मत है । एवं यदि दुःख दूर करना है तो सब (का दुःख) दूर करना होगा, नहीं तो सबकी भाँति अपना (दुःख भी) दूर नहीं करना होगा ॥103॥

कृपा से बहुत दुःख होता है, फिर बलात् उसे क्यों उत्पन्न किया जाये ? जगत् के इस दुःख को देख कर कृपा का दुःख बहुत कैसे ? ॥104॥

यदि, एक के दुःख (उठाने) से बहुतों का दुःख चला जाय तो अपने और पराये पर कृपा करके वह दुःख उठाना ही चाहिए ॥105॥

इसीलिए सुपुष्पचन्द्र ने, राज दण्ड को जानते हुए भी बहुत से दुःखियों का उद्धार करने के निमित्त अपने दुःख को दूर नहीं किया ॥106॥

इस प्रकार, जो सतत भावना करते रहते हैं, दूसरों का दुःख दूर करने में, जिन्हें संतोष होता है, वे पद्मवन में हंसों की भाँति

(दूसरों का दुःख दूर करने के लिए) अवीचि-नरक तक में डुबकी लगाते हैं ॥107॥

प्राणियों के (दुःख से) मुक्त होने से, तुझे जो प्रमोद-सिंधु मिलेंगे, बस वे ही पर्याप्त हैं। नीरस निर्वाण में है ही क्या ? ॥108॥

इसलिए एकमात्र परोपकार की अभिलाषा से परोपकार करके भी न गर्व करना चाहिए और न विस्मय और न विपाक फल की इच्छा ही ॥109॥

इसलिए, जैसे मैं अपने को नाम मात्र की बदनामी से बचाता हूँ, वैसे ही दूसरों पर मुझे दया और रक्षा का भाव रखना होगा ॥110॥

अभ्यासवश, जिस प्रकार परकीय रजोवीर्य-बिन्दुओं में, वास्तविकता के न होने पर भी, अपनेपन का बोध होता है। ॥111॥

उसी प्रकार दूसरे की काया को अपनी क्यों नहीं मानते। अपनी काया अपनी नहीं है—यह तो सहज ही सिद्ध है ॥112॥

अपने को सदोष तथा दूसरों को गुणनिधि मानकर, अपने को (पराया मानकर) त्याग तथा पराये को (अपना मानकर) ग्रहण करने की भावना करनी चाहिए ॥113॥

जैसे, हाथ आदि अंग शरीर के अवयव होने के कारण प्रिय होते हैं, वैसे देहधारी जगत् के अवयव होने के कारण प्रिय क्यों नहीं ? ॥114॥

जिस प्रकार, इस निरात्मक निज शरीर में अभ्यासवश अपनेपन का बोध होता है, वैसे ही दूसरे (प्राणियों के शरीरों) में अभ्यास से क्या अपनापन न उत्पन्न होगा ॥115॥

इस प्रकार, परार्थ करके भी न गर्व हो सकता है और न विस्मय। अपने आपको ही भोजन करा (किसी में उसके बदले के) फल की आशा नहीं होती ॥116॥

इसलिए, जैसे दुःख और शोक आदि से, अपने आप को बचाना चाहते हो, वैसे ही जगत् के प्रति दया और रक्षा के भाव का अभ्यास करो ॥117॥

इसीलिए अवलोकितेश्वर ने, जन के पर्षत्-शारद्य रूपी भय को दूर करने के लिए अपने नाम का अधिष्ठान किया है ॥118॥

अभ्यास के बल से (मनुष्य) दुष्कर (कृत्य) से पीछे नहीं लौटता । जिसके सुनने से डर लगता है, उसी के बिना उसे चैन नहीं पड़ती ॥119॥

जो अपने और पराये को शीघ्र बचाना चाहता हो, उसे चाहिए कि परम रहस्य परात्मपरिवर्तन का आचरण करें ॥120॥

जिसे अपने (शरीर) में अत्यन्त स्नेह के कारण थोड़े भय में भी भय ही भय मालूम होता है, उस शत्रु के समान भयंकर अपने (शरीर) से कौन द्वेष न करे ? ॥121॥

जो (अग्नि-) मांछ, क्षुधा, पिपासा आदि (दुःखों) का प्रतिकार करने की इच्छा से पक्षी, मत्स्य और मृगों को मारता है तथा विरोध में खड़ा होता है ॥122॥

जो लाभ और सत्कार के लिए माता-पिता तक की हत्या करता है, त्रिरत्न के धन को छीन लेता है, और जिसके कारण [उसे] अवीचि-नरक का ईधन होना पड़ता है ॥123॥

कौन बुद्धिमान्, उस अपने [शरीर] की इच्छा करे, रक्षा करे, पूजा करे । कौन [इसका] मान करे और इसे शत्रु के समान न देखे ॥124॥

‘यदि, दूँगा तो क्या खाऊँगा’ यह अपने लिए सोचना पिशाचपन है । ‘यदि, खाऊँगा तो क्या दूँगा’ यह पराये के लिए सोचना देवराजता है ॥ ॥125॥

अपने लिए दूसरे को पीड़ा देकर [मनुष्य को] नरक आदि में पकना पड़ता है। पर दूसरे के लिए स्वयं क्लेश उठाने से [मनुष्य को] सब संपत्तियाँ मिलती हैं ॥126॥

अपने लिए उन्नति की जिस इच्छा से दुर्गति, अवज्ञा और मूर्खता मिलती है, उसी [इच्छा] का दूसरों में संक्रमण करने से सुगति, सत्कार और प्रज्ञा मिलती है ॥127॥

अपने लिए दूसरे को आज्ञा देकर [उस कर्म के फलरूप में] दासता आदि का अनुभव करना पड़ता है। दूसरे के लिए इसे [=निज को] आज्ञा देकर [उस कर्म के फलरूप में] प्रभुता आदि का अनुभव करने को मिलता है ॥128॥

संसार में, जो कोई दुःखी हैं, वे सब अपनी सुखेच्छा के कारण। संसार में, जो कोई सुखी हैं, वे परकीय सुखेच्छा के कारण ॥129॥

अधिक कहने से क्या ? स्वार्थपरायण अज्ञानी और परोपकारी ज्ञानी में इस अन्तर को देखो (एक दुःखी है, दूसरा सुखी) ॥130॥

दूसरे के दुःख से, अपने सुख को बिना बदले बुद्धत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, फिर संसार में सुख ही कहाँ ? ॥131॥

परलोक की बात रहने दो। काम न करने वाले नौकर का और नौकरी न देने वाले स्वामी का ऐहिक अर्थ भी सिद्ध नहीं होता ॥132॥

परस्पर सुख पहुँचाना लोक और परलोक में सुखोत्सव मनाना है, उसे छोड़ मूढ लोग एक दूसरे को दुःख देकर घोर दुःख पाते हैं ॥133॥

संसार में, जो उपद्रव होते हैं, जितने दुःख और भय हैं, वे सब आत्म परिग्रह से होते हैं। इसलिए, इस परिग्रह से मेरा क्या ? ॥134॥

बिना आत्म परित्याग किये, दुःख का परित्याग नहीं हो सकता, जैसे बिना अग्नि का पिरत्याग किये, दाह का परित्याग नहीं हो सकता ॥135॥

इसलिए, अपने और पराये की दुःख शांति के लिए दूसरों के प्रति आत्म समर्पण करता हूँ और दूसरों को आत्म-तुल्य ग्रहण करता हूँ ॥136॥

हे मन ! “मैं दूसरे का बंधुआ हूँ” यह निश्चय कर । सकल-प्राणि-हित करना छोड़, अब तुझे और कुछ नहीं सोचना है ॥137॥

दूसरे के नेत्र आदि से अपने स्वार्थ के लिए देखना भी ठीक नहीं है । दूसरे के हाथ आदि से अपने स्वार्थ के लिए हिलना भी ठीक नहीं है ॥138॥

इसलिए प्राणि (हित) परायण होकर इस शरीर में जो-जो देखता है, उस उसको इससे छीनकर दूसरों का हित कर ॥139॥

हीन आदि में अपनापन कर और अपने को पराया भी मान, मन में संकल्प-विकल्प न करके, ईर्ष्या और मान की भावना कर ॥140॥

इसका सत्कार होता है, मेरा नहीं । जैसा यह लाभी है, (वैसा) मैं नहीं । इसकी स्तुति होती है, मेरी निन्दा, यह सुखी है, मैं दुःखी ॥141॥

मैं काम करता हूँ, यह आराम से बैठा है । यह लोक में महान् है, मैं नीच हूँ, निर्गुणी हूँ ॥142॥

मैं निर्गुणी क्या अपने आपको गुणी बना सकूँगा ? वे भी हैं, जिनमें मैं हीन हूँ । वे भी हैं जिनमें मैं उच्च हूँ ॥143॥

शील-विपत्ति, दृष्टि-विपत्ति आदि क्लेशों की शक्ति से होती है, उन पर मेरा वश नहीं । मैं चिकित्सा के योग्य हूँ और यथाशक्ति पीड़ा सहना भी मुझे मंजूर है ॥144॥

यदि, इससे मेरी चिकित्सा नहीं हो सकती तो (यह) मेरी अवज्ञा क्यों करता है ? इसके गुणों से मेरा क्या ? वह अपने आप गुणी हो तो हुआ करे ॥145॥

दुर्गति रूप सर्प के मुँह में पड़ी दुनिया के ऊपर इसे दया नहीं आती (फिर भी) गुण के मान से यह दूसरे पंडितों को जीतना चाहता है ॥146॥

अपने को यदि दूसरों के बराबर देखे तो स्वयं और बढ़ने का यत्न करना चाहिए । कलह के द्वारा भी (यदि) लाभ और सत्कार अपने को (मिले तो उसका) उपाय करना चाहिए ॥147॥

लोक में सब जगह (यदि) मेरे गुण प्रकट हो जायें (तो) इसके जो गुण हैं, उन्हें कोई सुनेगा भी नहीं ॥148॥

मेरे दोष गुप्त रहें । मेरी पूजा हो, इसकी न हो । आज मुझे लाभ है—सुलाभ है । मैं पूजित हूँ, यह नहीं ॥149॥

चिर (काल) के बाद (आज) हम इसे सब लोगों से इधर-उधर तिरस्कृत, उपहसित और निन्दित देख रहे हैं (तथा) प्रसन्न हो रहे हैं ॥150॥

इसका पांडित्य, बुद्धि, रूप, कुल और धन क्या इतना है कि इस बेचारे को भी मेरे साथ स्पर्धा हो ॥151॥

इस प्रकार, जहाँ-तहाँ अपने गुणों का बखान सुनकर प्रसन्न और रोमांचित हो सुखोत्सव का भोग करूँगा ॥152॥

और यदि इसे लाभ हो तो बलपूर्वक हमें उसे छीन लेना है । यदि, हमारा काम करता है तो गुजारा भर देकर ॥153॥

इसे सुख नहीं लेने देना है (तथा) सदा कठोर दुःख देना है । इसी ने सैकड़ों बार हम सबको संसार में सताया है ॥154॥

स्वार्थ की जिज्ञासा करते-करते अपरिमित कल्प बिताये । इस महान् श्रम से तूने दुःख ही कमाया ॥155॥

उसी प्रकार, मेरे कहने से बिना विचार किये, इस [बोधिचर्या] में भी लग जाओ, तब इसके गुण देखोगे । भगवान् का वचन यथार्थ ही होता है ॥156॥

यदि, तूने पहले यह काम किया होता, तो बोधि की संपत्ति का सुख [ही होता, उसे] छोड़ यह दशा न होती ॥157॥

इसलिए, जैसे दूसरे के रजोवीर्य बिन्दुओं में तूने आत्मभाव किया है, वैसे ही दूसरों [के शरीरों] में भी [आत्मभाव की] भावना कर ॥158॥

दूसरों का सेवक हो, इस काया में, जो जो वस्तु देख, उस उसको छीन कर दूसरों का हित कर ॥159॥

यह अच्छी दशा में है, दूसरा बुरी दशा में है । यह उच्च है, दूसरा नीच है । यह नहीं करता, दूसरा करता है । इस प्रकार [सोच] तू अपने ऊपर ईर्ष्या कर ॥160॥

अपने को सुख से अलग रख [और] दूसरों के दुःख [दूर करने] में लगा । “यह कब क्या करता है” यह [देखते हुए], इसके छल को भाँपता रह ॥161॥

दूसरे के किये दोष को भी इसके ही मत्थे मढ़ और इसके थोड़े से भी दोष का दुनिया में ढिँढोरा पीट ॥162॥

दूसरों के नाम का ऊँचा नारा लगा कर इसके नाम पर कालिख पोत । नीच दास की भाँति, इसे प्राणियों के (सेवा-) कार्य में जोत ॥163॥

आरोपित गुणों के अंश द्वारा इस दोषमय की स्तुति न करना । और ऐसा कर जिसमें इसके गुणों को कोई न जान पाये ॥164॥

संक्षेप में अपने हित दूसरों का जो जो बुरा किया है, वह वह बुराई प्राणिहित अपने ऊपर डाल ॥165॥

इसे उत्साह न देना कि यह बक बक करे । नई बहू की भाँति इसे सलज्ज, सभीत कर परदे में रख ॥166॥

‘ऐसा कर, इस तरह बैठ, तुझे यह न कहना चाहिए’ इस प्रकार (शासन द्वारा), इसे वश में करना चाहिए । वैसा न करने पर दंड देना चाहिए ॥167॥

हे चित्त ! यों कहने पर भी यदि तू यह न करेगा तो तुझे दण्ड दूँगा । सब दोषों का अड्डा तू है ॥168॥

कहाँ जायगा, मैंने देख लिया, तेरा सब घमंड चूर किये देता हूँ । वह पहले का समय और ही था जब तूने मेरा सत्यानाश किया ॥169॥

अब भी मेरा (तुझसे कुछ) स्वार्थ है—इस आशा को अब छोड़ दे । मैंने (तेरी) बहुत सी तकलीफों का ख्याल न कर, तुझे दूसरों के हाथ बेच डाला है ॥170॥

यदि, प्रमादवश मैं तुझे प्राणियों को नहीं सौंपता तो तू मुझे निःसन्देह नरक-पालों के हवाले कर देगा ॥171॥

इस प्रकार, अनेक बार देकर, तूने मुझे सताया है । उन वैरों का स्मरण कर तेरी स्वार्थ के दास की गत बनाए बिना न रहूँगा ॥172॥

यदि, तुझे अपने से प्रेम है, तो अपने से प्रेम न करना । इस आत्मा को यदि बचाना है, तो (यही) उचित है (कि इसे) न बचाया जाए ॥173॥

जैसे जैसे इस काया का पालन किया जाता है, वैसे वैसे सुकुमार होकर यह पतित होती जाती है ॥174॥

यह समूची धरती भी इस प्रकार इस पतित की इच्छा पूरी नहीं कर सकती। फिर कौन इसकी इच्छा करेगा ? ॥175॥

अलभ्य की इच्छा करने से क्लेश होता है, आशा टूटती है। जो सर्वत्र निराश है, उसकी संपत्ति घटती नहीं ॥176॥

इसलिए काया की इच्छा बढ़ाने का अवसर न देना। उसी वस्तु से कल्याण होता है, जिस पर प्रेमासक्ति नहीं होती ॥177॥

अपवित्रता की यह भयंकर प्रतिमा (देह) जिसका अन्त भस्म निष्ठा है, जो (स्वयं) चेष्टा रहित है और किसी दूसरे के द्वारा सचेष्ट होती है, उसमें मेरा आग्रह क्यों ? ॥178॥

इस जीवित या मृत यंत्र से मेरा क्या ? इसकी ढेले आदि से क्या विशेषता ? हा ! अहंकार ! तू नष्ट नहीं होता ॥179॥

शरीर का पक्षपात कर बेकार दुःख कमाया जाता है। काष्ठ के समान इस शरीर का राग-द्वेष से क्या ? ॥180॥

इस प्रकार, मैं पालूँ या गिद्ध आदि खायें, इसे राग-द्वेष नहीं। फिर मैं क्यों स्नेह करूँ ॥181॥

जिसके तिरस्कार से (हमें) रोष और पूजा से संतोष होता है, वह (स्वयं) ही यदि नहीं जानता तो मेरा यह श्रम किसलिए ? ॥182॥

जो इस (मेरे) शरीर को चाहते हैं, वे मेरे प्रिय हैं। सब अपने शरीर को चाहते हैं, वे भी मेरे प्रिय क्यों नहीं ? ॥183॥

अतः मैंने अनासक्ति के साथ यह शरीर जगत् के हित के लिए दे डाला है, यतः बहुत दोषयुक्त होने पर भी कर्मोपकरण की भाँति मैं इसे धारण कर रहा हूँ ॥184॥

इसलिए दुनिया का चलन रहे एक ओर, मैं तो अप्रमादकथा का स्मरण कर स्त्यान-मिद्ध को दूर करते हुए पंडितों की राह पकड़ता हूँ ॥185॥

इसलिए (क्लश के) आवरण का नाश करने के लिए, चित्त को असन्मार्ग से खींच, (ध्यान के) आलंबन में निरंतर लगा समाधिस्थ करता हूँ ॥186॥

नवम परिच्छेद प्रज्ञापारमिता

इस सब (शील-समाधि आदि) सामग्री को तथागत ने, प्रज्ञा के लिए (साधन के रूप में) कहा है। इसलिए दुःख दूर करने की इच्छा से (मनुष्य को) चाहिए कि प्रज्ञा को उत्पन्न करे ॥1॥

व्यवहार सत्य तथा परमार्थ सत्य, ये दो सत्य हैं। (परमार्थ सत्य, जो कि निष्प्रपंच) तत्व है, बुद्धि का विषय नहीं बनता। (यह प्रपंच-विषयक, जो) बुद्धि है, उसी का नाम व्यवहार सत्य है ॥2॥

उन (व्यवहार और परमार्थ सत्य) में (अधिकारी) लोग, दो प्रकार के देखे जाते हैं। (व्यवहार सत्य के अधिकारी लोग), साधारण होते हैं और (परमार्थ सत्य के अधिकारी लोग), योगी अर्थात् रहस्यवादी होते हैं। रहस्यवादी साधारण लोगों को प्रमाण नहीं मानते ॥3॥

योगियों में, जो अधिक पहुँच वाले होते हैं, वे (अपने से) कम पहुँच वालों को (अपने) विशेष ज्ञान के कारण प्रमाण नहीं मानते। (साधारण और योगी) दोनों द्वारा अभिमत (स्वप्न, इन्द्रजाल आदि के) दृष्टान्त द्वारा (जगत् की मायामयता सिद्ध होती है और उस मायामय जगत् में अपने) कार्य की सिद्धि के लिए (लोग) अविचार-पूर्वक (प्रवृत्त) होते हैं ॥4॥

दुनिया (सब) पदार्थों को देखती है और उन्हें परमार्थ में, वैसा ही मानती है पर उन्हें मायामय नहीं समझती—यहाँ योगियों के साथ दुनिया का झगड़ा है ॥5॥

रूप आदि जिनका (इन्द्रियों द्वारा) प्रत्यक्ष होता है (और उन्हें दुनिया जैसा समझती है, उनका वैसा समझना) रूढ़ि के कारण है, प्रमाण के कारण नहीं। वह अशुचि आदि में शुचि आदि की प्रसिद्धि के समान भ्रम ही है ॥6॥

[(प्रश्न)—स्वप्नवत् जगत् जब मिथ्या ही हुआ, तब उसका स्कन्ध आदि के द्वारा निरूपण करना तथा उसे क्षणिक कहने आदि का अर्थ क्या ?

[प्रतिवचन] भगवान् ने, दुनिया का (शून्यता में) प्रवेश कराने के लिए (स्कन्ध आदि) पदार्थों की देशना की है। परमार्थ में, वे क्षणिक नहीं हैं।

[प्रश्न] (परमार्थ से न सही) संवृत्ति से तो क्षणिक हैं ? ॥7॥

[प्रतिवचन] यह तो उलटी बात हुई (संवृत्ति से पदार्थ क्षणिक कहाँ ? वे तो अनेकों क्षणों तक स्थिर दिखाई पड़ते हैं)। पर यह (दोष) दोष नहीं है। योगि-संवृत्ति से (पदार्थ क्षणिक माने जाते हैं क्योंकि) वे साधारण लोगों से अधिक तत्त्वज्ञानी होते हैं (और उन्हीं के व्यवहार से) स्त्री को अशुचि कहा जाता है, यद्यपि यह भी लोक-व्यवहार के विरुद्ध (ही) है ॥8॥

[आक्षेप] (जब सब जगत् ही मायामय है तब बुद्ध भी मायामय हुए) भला मायामय बुद्ध (की पूजा से) पुण्य कैसे ?

[प्रत्याक्षेप] परमार्थ बुद्ध की पूजा से भी पुण्य कैसे ?

[प्रश्न] यदि, जीव मायोपम है तो मर कर उसका पुनर्जन्म क्यों ? ॥9॥

[प्रतिवचन] माया भी तब तक बनी रहती है, जब तक उसकी कारण सामग्री रहा करती है (वह चाहे क्षणभर रहे और चाहे

चिरकाल तक रहे) । केवल चिरकाल तक संसार में रहने के कारण जीव किसी भी तरह वास्तविक नहीं हो सकता ॥10॥

[आक्षेप]—जैसे ऐन्द्रजालिक पुरुष की हत्या में पाप नहीं लगता, वैसे लौकिक पुरुष की हत्या में पाप नहीं लगना चाहिए क्योंकि दोनों ही मायामय हैं ?

[समाधान]—मायापुरुष चित्तहीन होता है इसलिए उसकी हत्या में पाप नहीं लगता । (जो पुरुष) चित्तरूपी माया से युक्त है, (उसके साथ यथाचरण) पाप भी लग सकता है और पुण्य भी हो सकता है (किं च) ॥11॥

मंत्र आदि में यह शक्ति नहीं होती कि उनसे माया-चित्त की उत्पत्ति हो सके (क्योंकि) वह माया भी नाना प्रकार की होती है और नाना प्रत्ययों से उत्पन्न हुआ करती है ॥12॥

किसी एक ही प्रत्यय में यह शक्ति नहीं होती कि उससे सब कुछ उत्पन्न हो सके ।

[आक्षेप] (जिनके लिए संसार कुछ है ही नहीं—सर्वथा माया ही माया है, वे वस्तुतः संसारी नहीं कहे जा सकते पर व्यवहार में उनका संसरण देखा जाता है अतएव) यदि, परमार्थ में निर्वृत अर्थात् असंसारी व्यवहार में संसारी हो जाए ॥13॥

तो बुद्ध भी इस प्रकार संसारी हो जाएंगे फिर बोधिचर्या से क्या ?

[समाधान] जब तक प्रत्ययों का उच्छेद नहीं होता तब तक माया भी उच्छिन्न नहीं होती ॥14॥

और जब प्रत्ययों का उच्छेद हो गया तब संवृत्ति से भी उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

विज्ञानवादियों के आक्षेप और उनका समाधान

[आक्षेप] (सब जगत् के मायामय होने के कारण माध्यमिकों के मत में) भ्रान्ति अर्थात् माया-ग्राहिका बुद्धि भी असत् ठहरी तब माया की उपलब्धि किससे ? ॥15॥

[प्रत्याक्षेप] (तुम विज्ञानवादी एकमात्र चित्त को सत् मानते हो सो तुम्हारे मत में) जब माया है ही नहीं तो किसी की उपलब्धि होने की बात ही क्या ?

[विज्ञानवादी का समाधान] वह (माया) चित्त ही का आकार है (और बाहर दिखाई पड़ने से भीतर के चित्त से) वस्तुतः पृथक् (जान पड़ती) है ॥16॥

[माध्यमिक का आक्षेप] (जब विज्ञानवादी के मत के अनुसार) चित्त ही माया ठहरा तब दृश्य कौन और दृष्टा कौन ? भगवान् ने कहा है कि चित्त चित्त को नहीं देखता ॥17॥

जैसे तलवार अपने आप को नहीं काटती, वैसे मन (अपने आपको नहीं देखता) ।

[विज्ञानवादी] जैसे दीप अपने आपको प्रकाशित करता है, (वैसे चित्त अपने आपको देखता है) ॥18॥

[माध्यमिक] (विज्ञानवादी का दृष्टान्त ठीक नहीं) दीप प्रकाशित नहीं होता क्योंकि (प्रकाशन उसी वस्तु का होता है, जो पहले से छिपी हुई हो और दीप) अंधकार (आदि) से छिपा नहीं होता (कि उसका प्रकाशन हो) ।

[विज्ञानवादी] कोई वस्तु सापेक्ष होती है और कोई निरपेक्ष । जैसे नील अपनी नीलिमा के लिए (निरपेक्ष है, उसे) स्फटिक की

भाँति (अपने को नीला करने के लिए) दूसरा (नील पदार्थ) नहीं चाहिए ॥19॥

[माध्यमिक] उस नील (पदार्थ) को नील-हेतु नहीं माना जाता, जो नीलगुण रहित हो। जो स्वयं नील है, उसे उसके अपने ही द्वारा कौन (फिर) नीला कर सकता है ॥20॥

(और) वह नील (पदार्थ), जो नीलगुणरहित है, अपने से अपने आपको नीला नहीं बना सकता। (अतः जैसे नील स्फटिक को नील-हेतु की अपेक्षा होती है, वैसे नील को भी नील-हेतु की अपेक्षा होती है)। (इसके अतिरिक्त)— ॥21॥

“दीप (स्वयं) प्रकाशित होता है”—यह चित्त से जानकर कहा जाता है। “चित्त प्रकाशित होता है” यह किससे जानकर कहा जाता है? ॥22॥

“(चित्त स्वयं) प्रकाश है या नहीं” (यह बात) किसी द्रष्टा के अभाव में चाहे जितनी कही जाए, वह बन्ध्या-पुत्री के विलास की भाँति मिथ्या है ॥23॥

[विज्ञानवादी] यदि विज्ञान (चित्त) का स्वसंवेदन न हो तो उसकी स्मृति कैसे ?

[माध्यमिक] (यतः ज्ञान और ज्ञेय विषय का ग्राह्यग्राहक) संबंध होता है, अतः विषय का अनुभव होने पर (ज्ञान का) स्मरण होता है। इसमें दृष्टान्त मूर्षिक-विष है, (जो जिस क्षण शरीर में प्रविष्ट होता है, जान नहीं पड़ता पर मेघगर्जन से प्रकुपित होकर जान पड़ता है क्योंकि मूर्षिक-विष और मेघ-गर्जन का प्रकोप्य-प्रकोपक संबंध होता है) ॥24॥

[विज्ञानवादी] यतः (ऋद्धिमान् लोगों को) प्रत्ययातरयुक्त अर्थात् भिन्न देशकालादि में स्थित विज्ञान (=चित्त) का दर्शन (=साक्षात्कार)

होता है, अतः (यह मानना ही पड़ेगा कि विज्ञान का स्वयं-संवेदन होता है) ।

[माध्यमिक] सिद्धांजन के उपाय से (धरती में गड़ा हुआ खजाने का) घड़ा दिखाई पड़ जाए तो उसे सिद्धांजन नहीं कहा जा सकता । (इसी प्रकार, ऋद्धि के द्वारा जिस विज्ञान से जिस विज्ञान का साक्षात्कार होता है, वे दोनों एक नहीं हैं । उनमें एक विषय होता है और दूसरा विषय-विज्ञाता । विषय और उसका विज्ञाता दोनों एक नहीं हो सकते) ॥25॥

(लोक-व्यवहार में) जो जैसा देखा-सुना-समझा जाता है, उसका यहाँ निषेध नहीं । केवल उसमें परमार्थ की कल्पना (जो लोगों ने कर ली है), उसका निषेध है क्योंकि वह दुःख का हेतु है ॥26॥

(विज्ञानवादियों की) कल्पना के अनुसार माया और चित्त एक नहीं हैं और न माया चित्त से पृथक् ही है । पर माया यदि परमार्थ सत् होती तो पृथक् क्यों न होती ? यदि, (माया चित्त से) अभिन्न मानी जाये (तब तो स्पष्ट ही है कि वह) परमार्थ सत् नहीं ॥27॥

जैसे माया परमार्थ सत् न होने पर भी दृश्य प्रतीत होती है, वैसे ही द्रष्टा मन भी (परमार्थ सत् नहीं है, फिर भी द्रष्टा प्रतीत होता है) ।

[विज्ञानवादी] इस संसार का आधार कोई परमार्थसत् (पदार्थ) होना चाहिए (और वह पदार्थ सत् पदार्थ चित्त के अतिरिक्त हो ही क्या सकता है ?) यदि, ऐसा न माना जाए तो उसे आकाश जैसा (शून्य) ठहराना होगा ॥28॥

फिर जिसका आधार कोई परमार्थ सत् पदार्थ नहीं है, उससे (अर्थ-सिद्धि कर) कार्य कैसे हो सकता है ?

[माध्यमिक] तुम (विज्ञानवादियों के मत में) एकमात्र चित्त ही (परमार्थ सत्) है । साथ में दूसरा कोई (परमार्थ सत् पदार्थ) नहीं है ॥29॥

(इस प्रकार) जब चित्त ग्राह्य (-ग्राहक भाव आदि से) मुक्त सिद्ध हुआ तब सभी (प्राणी) तथागत ही हो गए (और आर्यमार्ग भावना की आवश्यकता न रही) एवं चित्तमात्रता (=विज्ञप्तिमात्रता =विज्ञानमात्रता) की कल्पना से क्या लाभ हुआ ? ॥30॥

[विज्ञानवादी] (जगत् को) मायोपम जानने पर भी क्लेश-निवृत्ति कैसे हो सकती है, जबकि मायास्त्री के निर्माता का उसमें राग हो जाता है ॥31॥

[माध्यमिक] उस (माया) स्त्री के निर्माता में ज्ञेयावरण की वासना बनी रहती है, इसीलिए उस (मायास्त्री रूपी पदार्थ के) दर्शन के समय शून्यता की वासना में बल नहीं होता ॥32॥

(पर) शून्यता की वासना जब स्थिर हो जाती है, तब वह (मायामय ज्ञेय पदार्थों को) भाव अर्थात् परमार्थ सत् समझने की वासना नष्ट हो जाती है । और वह [शून्यता-वासना] भी किसी [आलम्बन] के न होने के कारण अभ्यासवश बाद में नष्ट हो जाती है ॥33॥

जिस भाव का निषेध कल्पित किया जाता है, वह जब [निःस्वभाव होने के कारण] नहीं मिलता तब वह भाव बिना आश्रय के मति के संमुख कैसे ठहर सकता है ? ॥34॥

जब बुद्धि के समाने भाव और अभाव (दोनों ही) नहीं रहते, तब (उसके सामने) और कोई गति नहीं होती [कि वह स्वयं ठहर सके । इसलिए अन्त में] आलम्बन न होने के कारण [वह भी] शांत हो जाती है ॥35॥

जैसे चिन्तामणि और कल्पवृक्ष मनोरथ सफल करते हैं, वैसे ही विनेय और प्रणिधान से युक्त तथागत का काय भी [मनोरथ सफल करते] देखा जाता है ॥36॥

जैसे विषमंत्रज्ञ [मंत्रों द्वारा] स्तंभ को सिद्ध कर स्वयं मर जाता है, पर उसके मरने के चिर (काल) बाद तक भी वह [स्तंभ] विष आदि की शांति करता रहता है ॥37॥

[उसी प्रकार] बोधिचर्या की अनुरूपता से सिद्ध किया गया जिनस्तंभ भी बोधिसत्त्व का निर्वाण हो जाने पर भी [प्रणिहित के] सब कार्य करता रहता है ॥38॥

[आक्षेप] चित्त-हीन [केवल प्रतिमा अथवा स्तूप के रूप में की गई बुद्ध की] पूजा कैसे फलदायक हो सकती है, [जबकि पूजा का ग्रहण करने वाला कोई है ही नहीं] ।

[समाधान] यतः [शास्त्र में] जीवित और परिनिर्वृत [दोनों प्रकार के बुद्धों की पूजा के फल का] समान भाव से प्रतिपादन है, [अतः इस प्रकार के आक्षेप का अवकाश ही कहाँ ?] ॥39॥

जैसे कि सत्य बुद्ध अर्थात् जीवित बुद्ध की पूजा से फल होता है [वैसे ही परिनिर्वृत बुद्ध की पूजा से भी] फल होता है । यह बात आगम से सिद्ध है, भले ही वह [फल] परमार्थ सत् हो या व्यवहार सत् ॥40॥

[सर्वास्तिवादी] मुक्ति सत्यदर्शन से होती है । शून्यतादर्शन से क्या ?

[माध्यमिक] इस [शून्यतादर्शन के] मार्ग के बिना बोधि-लाभ नहीं होता । ऐसा चूँकि आगम [में कहा] है, [इसलिए शून्यतादर्शन सप्रयोजन है] ॥41॥

[सर्वास्तिवादी]—महायान [-आगम] प्रमाणभूत नहीं है ।

[माध्यमिक]—आपका आगम प्रमाणभूत कैसे ?

[सर्वास्तिवादी]—क्यों उसे [हम] दोनों प्रमाण मानते हैं ।

[माध्यमिक]—आपका आगम भी [जब हम दोनों ने माना था तब से] पूर्व प्रमाणभूत न था ॥42॥

जिन कारणों से, उसे प्रमाण माना जाता है, उन्हीं कारणों से महायान [आगम] को भी प्रमाण मानना चाहिए [और आगम को प्रमाण मानने में चार ही कारण हैं—वह अर्थ का होना चाहिए, अनर्थ का नहीं; वह धर्म का होना चाहिए, अधर्म का नहीं; उसे क्लेशनाशक होना चाहिए, क्लेशवर्द्धक नहीं; उसे शांति [निर्वाण] की महिमा बतानी चाहिए और अशांति [संसार] की महिमा घटानी चाहिए । [अभिप्राय यह है कि उसे सुभाषित होना चाहिए और जो भी सुभाषित है, वह सब बुद्धवचन ही है] और यदि [इस पारस्परिक विवाद के कारण] हम दोनों के अतिरिक्त औरों को जो इष्ट है उसे प्रमाण माना जाए तो वेद आदि को भी प्रमाण मानना होगा ॥43॥

[सर्वास्तिवादी]—महायान (-आगम का प्रामाण्य) विवादग्रस्त है ।

[माध्यमिक]—यदि, ऐसी बात है तो (अपने) आगम का त्याग करो क्योंकि उस पर तीर्थिकों (अबौद्धों) का विवाद है । (और नानानिकायभिन्न दूसरे बौद्ध आगमों को (भी छोड़ो) क्योंकि स्वकीय और परकीय (निकायों का एक दूसरे से तथा एक ही निकाय में भी अवान्तर भेदों के कारण विवाद रहता ही है) ॥44॥

(इस प्रकार जिस) भिक्षुता अर्थात् भिन्न क्लेशता की जड़ पर धर्म (का वृक्ष स्थित) है, वही जब उखड़ गई अर्थात् शून्यता दर्शन के बिना, जब क्लेश की हानि न हो सकी [और] चित्त [किसी न किसी] आलंबन में बंधा रह गया, तब निर्वाण भी असंभव ही रहा ॥45॥

[इसके अतिरिक्त सत्य दर्शन के द्वारा] क्लेशों का नाश होने से मुक्ति होती है—यदि, ऐसा मान भी लें तो उस [मुक्ति] को तदनन्तर अर्थात् क्लेशनाश के अनन्तर ही होना चाहिए [पर वह होती नहीं, क्योंकि अर्हत् अंगुलिमाल और महामौद्गल्यायन आदि को] क्लेशरहित भी कर्म का फल भोगते देखा गया है ॥46॥

[किं च] निश्चय से यह मानना कि [अर्हतों में] तृष्णा, जो कि उपादान [-पुनर्जन्म का कारण] है, नहीं रहती [ठीक नहीं]। [क्योंकि इन अर्हतों में क्लेशरहित अज्ञान की भाँति क्या क्लेशरहित] तृष्णा भी नहीं रहती ? ॥47॥

(अवश्य रहती है। क्योंकि) वेदना के कारण तृष्णा होती है और इन (अर्हतों को) वेदना होती है। (अतः जब तृष्णा नष्ट न हुई तब) चित्त को (किसी न किसी) आलंबन से (बंधकर) जहाँ-तहाँ रहना ही होगा (फिर मुक्ति कहाँ ?)। (अतः मुक्तिसाधन होने से महायान-आगम की प्रमाणता संदेह से परे है) ॥48॥

शून्यता की संप्रयोजनता

शून्यता [-भावना] के बिना चित्त बंधा रहता है [अतएव] उसका संतान [समाधि में रुक कर] फिर चलने लगता है, जैसा कि असंज्ञिसमापत्ति में [चित्त चैतसिक धर्मनिरुद्ध हो जाते हैं, पर समाधि भंग होते ही उनका संतान फिर चलने लगता है] अतएव [चित्तसंतान के पूर्ण निरोध के लिए] शून्यता की भावना करनी चाहिए ॥49॥

जो वाक्य सूत्र में होता है, वही यदि बुद्धवचन है, तो महायान [-सूत्र], जो प्रायः आपके सूत्रों जैसे हैं, उन्हें [बुद्धवचन के रूप में प्रमाण] क्यों नहीं मानते ? ॥50॥

एक असंगति के कारण यदि, सबको असंगत माना जाए तो समूचे बुद्धवचन को एक सूत्र के समान क्यों नहीं मानते ? ॥51॥

जिस [बुद्ध-] वचन को महाकाश्यप प्रमुख [अर्हत्] न समझ सके, वह यदि तुम्हारी समझ में न आए तो [इतने भर से] उसे कौन अग्राह्य मानेगा ? ॥52॥

शून्यता का (ही) यह फल है कि (बोधिसत्त्व) व्यवहार (सत्य के आश्रय) द्वारा दुःखियों के निमित्त संसार में रहता है (पर वह स्वयं) आसक्ति के अन्त से मुक्त होता है (क्योंकि उसे किसी नित्य की कल्पना नहीं होती, जिसमें आसक्त हो) और त्रास के अन्त से (भी) मुक्त होता है (क्योंकि वह उच्छेद की कल्पना नहीं करता, जिससे उसे भय हो। एवं वह दोनों अन्तों में न फँस मध्यमा प्रतिपत् का ही अभ्यास करता है) ॥53॥

इस प्रकार, शून्यता के पक्ष में दोष मढ़ना युक्ति-संगत नहीं। अतः अनु-नच छोड़कर शून्यता की भावना करनी ही चाहिए ॥54॥

शून्यता क्लेशावरण और ज्ञेयावरण के अन्धकार को नाश करती है। जिसे सर्वज्ञता प्राप्त करने की इच्छा है, वह इसकी भावना क्यों नहीं करता ? ॥55॥

जिस वस्तु से दुःख होता हो, उससे कोई डरे तो डरे पर शून्यता तो दुःख को दूर करती है, उससे भय खाना कैसा ? ॥56॥

अहंकार का विषय

(1) शरीर अहंकार का विषय नहीं

यदि, मैं कुछ होऊँ तो जिस किसी से भय हो सकता है। यदि, मैं ही कुछ नहीं, तो भय किसे होगा ? ॥57॥

में दाँत, केश, नख नहीं हूँ। अस्थि नहीं हूँ। लहू भी नहीं हूँ।
नकमैल नहीं हूँ और थूक नहीं हूँ। पीव नहीं हूँ, (घाव की) लस भी
नहीं हूँ ॥58॥

में वसा नहीं हूँ और स्वेद नहीं हूँ। मेद नहीं हूँ। मैं आँते भी
नहीं हूँ। और मैं अत्रनिर्गुण्डी नहीं हूँ। मैं मल और मूत्र नहीं हूँ ॥59॥

में मांस नहीं हूँ। नस नहीं हूँ। गर्मी नहीं हूँ। और मैं वायु नहीं
हूँ। मैं छिद्र नहीं हूँ और न किसी प्रकार छह विज्ञान हूँ ॥60॥

(2) ज्ञान अर्थात् चेतन अहंकार का विषय नहीं।

[माध्यमिक]—अहंकार का विषय ज्ञान नहीं है। कल्पना कीजिए
कि) शब्दज्ञान अहंकार का विषय है पर (यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि
ऐसा होता) तो सदा शब्द सुन पड़ना चाहिए था (ज्ञान उसे कहते हैं,
जो किसी ज्ञेय या ज्ञातव्य विषय को जाने) जब ज्ञेय नहीं तब जानने के
लिए रहा ही क्या कि (हम) ज्ञान को (ज्ञान) कहें ॥61॥

यदि, ज्ञान बिना (कुछ) जाने ही (बना) रहे तब तो काठ भी
ज्ञान हो सकेगा। अतः निश्चय से ज्ञान (कभी भी) ज्ञेय से असंबद्ध
नहीं रहता ॥62॥

(ज्ञान, जो शब्द जानता है) वही जब रूप जानने लगता है तब
सुनता क्यों नहीं? यदि, (वह शब्द ज्ञान) शब्द के पास में न होने के
कारण नहीं सुनता तो वह असत् (ही) है ॥63॥

जो (ज्ञान) शब्दग्राही वह रूपग्राही कैसे?

[सांख्यान्यायी]—(जैसे) एक (व्यक्ति किसी के संबंध से) पिता
और (किसी के संबंध से) पुत्र होता है, (उसी प्रकार एक ही ज्ञान शब्द
के संबंध से शब्दग्राही और रूप के संबंध से रूपग्राही होता है ॥64॥

[माध्यमिक]—यह कल्पना ही ठहरी, तत्व (परमार्थ) की बात न हुई । (क्योंकि तुम सांख्य मत वालों के विचार से परमार्थ रूप में जो) सत्त्व, रजस्, तमस्, तत्त्व हैं, वे न तो पिता है और न पुत्र । (किं च जो ज्ञान रूपग्राही) है, उसका स्वभाव शब्दग्राही नहीं प्रतीत होता ॥65॥

(यदि), वही (शब्दज्ञान) नट की भाँति बहुरूपिया बनकर (रूपग्राही भी माना जाए तो) उसे अनित्य मानना पड़ेगा (क्योंकि वह नियत स्वभाव वाला न रहा) । उसी (एक ज्ञान में) स्वभाव-भेद माना जाए तो यह एकता अपूर्व (ही) हुई, जिसे कदाचित् ही कोई समझ सके ॥66॥

[सांख्यान्यायी]—(ज्ञान एक है । उसे जब शब्द या रूप आदि की उपाधियों से युक्त देखते हैं तब वह उपाधियुक्त, जिस दूसरे रूप को ग्रहण करता है, वह) दूसरा रूप सत्य नहीं होता ।

[माध्यमिक]—यदि, ऐसा मानो तो बताओ कि उसका अपना रूप क्या है ? यदि, 'अज्ञानता' को (उसका अपना रूप मानो) तो सब पुरुषों (=आत्माओं) में (भेद न रहने से) वे एक हो गईं (अनेक न रहीं, पर आत्माएँ तुम्हारी तत्त्वचर्या में हैं (अनेक) ॥67॥

(किं च इस युक्तिवाद के ढंग पर हम) चेतन और अचेतन को भी एक (कह सकते हैं) क्योंकि दोनों में अस्तित्व (-नामक) समान (धर्म) पाया जाता है । (पर) जब विशेष मिथ्या ही हुआ तो समानता ठहरेगी कहाँ ? (अर्थात् भेद होने पर ही सादृश्य संभव है । भेद के मिथ्या होने से सब कुछ एक ही हो जाएगा फिर प्रकृति-पुरुष आदि विभाग संभव ही कैसे होगा ? एवं ज्ञानस्वरूप आत्मा अहंकार का विषय नहीं हो सकता) ॥68॥

अचेतन अहंकार का विषय नहीं ।

[माध्यमिक]—अहं (कार का विषय) अचेतन (भी) नहीं है, जैसे कि वस्त्र आदि अचेतन होने के कारण (ही अहंकार का विषय नहीं होते) ।

[नैयायिक]—चेतना के योग से (अचेतन आत्मा भी) ज्ञाता होता है, (अतः वस्त्र आदि की भाँति नहीं है कि अहंकार का विषय न बन सके । क्योंकि वस्त्र आदि में चेतना कभी भी नहीं देखी जाती) ।

[माध्यमिक]—(यह ठीक नहीं क्योंकि मूर्छा आदि में आत्मा) ज्ञाता नहीं होता है, (अतः वह चेतना का योग न होने से उसे) नष्ट मानना होगा ॥69॥

[नैयायिक]—आत्मा के नष्ट होने का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि वह सदा अविकारी ही रहता है ।

[माध्यमिक]—(यह ठीक नहीं) क्योंकि जब आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता तब चैतन्य उसका कर ही क्या सकता है (=उसे ज्ञाता बना ही कैसे सकता है ?) इस प्रकार तो आकाश को भी आत्मा मानना पड़ेगा क्योंकि (तुम नैयायिकों के आत्मा की भाँति ही वह) निकम्मा और ज्ञानहीन है ॥70॥

[नैयायिक]—(कर्म और उसके फल को तुम बौद्ध लोग भी मानते हो पर आत्मा नहीं मानते) बिना आत्मा के कर्म और फल किसी में बंध सकें यह संभव नहीं । क्योंकि कर्म करके (क्षणिक होने के कारण जब कर्ता) नष्ट हो गया तो फल होगा ही किसे ? ॥71॥

[माध्यमिक]—हम दोनों के (मत में) कर्म और फल एक आधार में नहीं सिद्ध होते (क्योंकि हमारे यहाँ कर्ता क्षणिक ही है, जो कर्म करता है, वह भोगता नहीं । और तुम्हारे यहाँ कर्म करने वाला शरीर

है। जो शरीर कर्म करता है, वह शरीर (परलोक में अथवा यहाँ फिर जन्म लेकर) फल नहीं भोगता)।

[नैयायिक]—(शरीर के भिन्न-भिन्न होने पर भी आत्मा तो वही रहता है। वह एक शरीर में कर्ता है और दूसरे शरीर में भोक्ता। अतः हमारे मत में कर्म और फल का आधार एक ही है।)

[माध्यमिक]—(तुम्हारे मत में) आत्मा तो निष्क्रिय होता है, अतः (उसके कर्ता या भोक्ता की) बात चलाना व्यर्थ ही है ॥72॥

(हाँ, हमारे मत में क्षण-क्षण बदलने वाले जीव का जो) संतान अर्थात् प्रवाह है, उसको एक मान लेने से (एक आधार में) कर्ता और भोक्ता होना कहा जा सकता है। (वस्तुतः) हेतुमान् (=कर्ता) और फलयोगी (=भोक्ता) का (एक होना) संभव नहीं दीखता ॥73॥

विज्ञानवादियों के अनुसार चित्त को परमार्थ सत् मानने पर भी वह अहंकार का विषय नहीं हो सकता।

[माध्यमिक]—(विज्ञानवादियों के अनुसार चित्त को परमार्थ मान लेने पर भी) चित्त, जो अतीत का है तथा जो अनागत का है, वह अहंकार का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो वस्तुतः है ही नहीं। रही बात वर्तमान चित्त की (सो वह भी अहंकार का विषय हो नहीं सकता क्योंकि दूसरे क्षण में) जब वह निरुद्ध हो जाएगा (तो उसके साथ) अहंकार नहीं रहेगा ॥74॥

जैसे कदली-स्तंभ को उधेड़ते जाने पर अन्त में कुछ नहीं रहता, वैसे ही विचार से खोज करने पर (अहम्) भी कुछ नहीं ठहरता ॥75॥

[प्रतिपक्षी]—यदि, (अहं अर्थात्) सत्त्व नहीं, तो (बोधिसत्त्व की) करुणा किस पर ?

[माध्यमिक]—पुरुषार्थ-सिद्धि के लिए मान लिये गये संवृति (-सत्य) के द्वारा, जिस (सत्त्व की) कल्पना कर ली गयी है, (उसी पर बोधिसत्त्व की करुणा होती है ।) ॥76॥

[प्रतिपक्षी]—जब सत्त्व है ही नहीं, तो पुरुषार्थ किसका ?

[माध्यमिक]—सत्य (कहते हो, न कहीं कोई सत्त्व है और न उसका पुरुषार्थ) ! पर मोह के कारण (लोग पुरुषार्थ-सिद्धि में) प्रवृत्त होते हैं और पुरुषार्थ (=परमतत्त्वावबोध) के लिए (साधन-भूत) इस मोह का प्रयोजन यतः दुःखनिवृत्ति है, अतः उसका निषेध (हम माध्यमिक लोग) नहीं करते ॥77॥

[प्रतिपक्षी]—पुरुषार्थसाधक मोह का, जैसे निषेध नहीं करते, वैसे आत्मा का भी निषेध न करो (तो हमारा-तुम्हारा झगडा न रहेगा ।)

[माध्यमिक]—(ऐसा भी हम कर देते पर विवशता है क्योंकि) आत्म-मोह से अहंकार बढ़ता है और वह दुःख का कारण है (अतः दुःख के कारण को मार भगाना ही पड़ेगा ।)

[प्रतिपक्षी]—(आत्मदर्शन से अहंकार दूर हो जाता है, अतः अहंकार दूर करने के लिए आत्मा के निषेध की आवश्यकता नहीं ।)

[माध्यमिक]—उस (आत्मदर्शन) से भी (अहंकार की) निवृत्ति संभव नहीं है (आत्म-दृष्टि होने से आत्मस्नेह तथा परद्वेष होगा । और कभी भी अहंता और ममता से पिंड नहीं छूटेगा) अतः (अहंकार दूर करने का उपाय) नैरात्म्य भावना से बढ़कर (और कोई) नहीं है ॥78॥

कायस्मृत्युपस्थान

न पैर काय है, न जाँघ । न उरु काय है और न कटि । न उदर काय है, न पीठ । न वक्षस्थल काय है, न उदर और न बाहु ॥79॥

न हाथ काय है, न पसली न काँख, और न कंधा (ही काय-) लक्षण (वाला) है । न गर्दन काय है न शिर । तब यहाँ काय कौन है ? ॥80॥

प्रसंगवश अवयवी की समीक्षा

यदि, सब (अवयवों) में, (अपने) एक अंश से काय रहता है तो (उस काय के) अंश तो अवयवों में रहे पर वह स्वयं कहाँ रहा ? ॥81॥

यदि, वह समूचा का समूचा काय सब हाथ आदि (अवयवों) में रहता है तो जितने हाथ आदि अवयव हुए उतने ही काय हुए । (फलतः अनेकत्व से घबरा कर एकत्व के मोह के कारण, जिस अवयवी की कल्पना की वह अनेकत्व अवयवी को भी ले डूबा ।) ॥82॥

(अतएव) भीतर (मांस रुधिर आदि) न काय है न बाहर (अवयवी ही काय सिद्ध हुआ) फिर हाथ आदि में काय (की प्रतिष्ठा) कैसे ? इन (कारणों) से काय अस्तिसिद्ध पदार्थ न ठहरा ॥83॥

भ्रमवश हाथ आदि में काय भातिसिद्ध पदार्थ (अवश्य) है जैसा कि थून्हे में आकार-प्रकार की विशेषता के कारण पुरुष का भातिसिद्ध बोध होता है ॥84॥

जब तक कारण-सामग्री रहती है तब तक काय पुरुष (स्त्री आदि) जैसा (प्रतीत) होता है । इसी प्रकार, जब तक वह (कारण-सामग्री) हाथ आदि में रहती है तब तक वहाँ काय दीख पड़ता है ।

कायः पुमानिव के स्थान में काष्ठं पुमानिव पाठान्तर है ।
इसके अनुसार अर्थ यों होगा—

जब तक कारण-सामग्री रहती है तब तक जैसे काठ (का थून्हा) पुरुष जान पड़ता है, वैसे ही हाथ आदि में, जब तक वह (कारण-सामग्री) रहती है तब तक वहाँ काय दिखाई पड़ता है) ॥85॥

प्रसंगवश परमाणुओं की समीक्षा

इस प्रकार, उँगलियों के समूह के अतिरिक्त पैर भी कौन सा है ? वह (उँगलियों का समूह) भी पोरों के समूह के अतिरिक्त (कुछ नहीं है) और पोर भी अपने अवयव भागों के अतिरिक्त (कुछ नहीं है) ॥86॥

(पोर के) अंश परमाणुओं में बँट जाते हैं तथा परमाणु भी दिशाओं में विभक्त हो जाता है । दिग्विभाग आकाश या शून्य है क्योंकि उसका कोई अंश नहीं । अतः परमाणु असत् ही है ॥87॥

इस प्रकार, इस स्वप्नोपम रूप में, किस विचारवान् की आसक्ति हो सकती है ? और इस प्रकार, जब काय ही नहीं रहा तो कौन स्त्री और कौन पुरुष ? ॥88॥

यदि, दुःख परमार्थसत् है तो जो मौज में है, उन्हें क्यों नहीं सताता ? यदि, सुख (परमार्थसत् है) तो जो शोक आदि से पीड़ित हैं, उन्हें मृष्ट अर्थात् स्वादु पदार्थ आदि क्यों नहीं भाते ? ॥89॥

यदि, वह (दुःख या सुख) प्रबल (सुख या दुःख) द्वारा दबा हुआ होने के कारण अनुभव में नहीं आता तो जो अनुभव में नहीं आता, उसमें वेदनीयता अर्थात् अनुभूत होने की योग्यता कैसे ? ॥90॥

(सुख के समय) दुःख अत्यन्त सूक्ष्म रूप में रहता है । केवल उसकी स्थूलता (=प्रबलता) चली जाती है । (यह ठीक नहीं क्योंकि दुःख की सूक्ष्मता का अनुभव सुखावस्था में नहीं होता) । यदि, लवलेख सुख को (दुःख की सूक्ष्मता) माना जाये (तो भी ठीक नहीं) क्योंकि वह तो (वस्तुतः) इस (सुख) की सूक्ष्मता हुई ॥91॥

यदि, विरुद्ध कारणों की उपस्थिति के कारण (सुखावस्था में) दुःख उत्पन्न नहीं होता तो (इससे अभिप्राय यह) निकला कि वेदना केवल (मन की) कल्पना का लगाव भर है ॥92॥

इसीलिए, इस (कल्पना के अभिनिवेश) के विरोधी विचार की यहाँ चर्चा है (क्योंकि बिना कल्पना दूर हुए तत्त्वाधिगम नहीं होता) । (किं च) योगी ध्यानाहार अर्थात् ध्यान के प्रीति-सुख से जीते हैं (और वह ध्यानाहार) उत्पन्न होता है, विकल्प अर्थात् कल्पना के क्षेत्र में (फलतः योगि-सुख मन की कल्पना ही है, अतः सांसारिक लोगों की वेदना की भाँति योगियों की वेदना भी मन का खेल है । एवं सिद्ध हुआ कि वेदना कोई परमार्थसत् पदार्थ नहीं ।) ॥93॥

इन्द्रिय और अर्थ के बीच यदि, अन्तर रहता है तो उनका संसर्ग कैसे ? यदि, अन्तर नहीं रहता तो तब तो दोनों एक ही हो गये, फिर किसी से किसी का संयोग हो तो कैसे ? ॥94॥

(पदार्थ परमाणुपुंज हैं और) परमाणु का परमाणु में प्रवेश संभव नहीं क्योंकि वह निरवकाश और निर्भाग होता है । प्रवेश के बिना मिलना संभव नहीं और बिना मिले संसर्ग संभव नहीं ॥95॥

निरवयव (पदार्थ) का संसर्ग हो ही कैसे सकता है ? यदि, निरवयव के संसर्ग का दृष्टान्त हो तो उसे उपस्थित करो ॥96॥

मन निराकार है । उसका किसी से संसर्ग हो नहीं सकता । (दृश्यमान प्रत्येक साकार पदार्थ परमाणुओं का) समूह है और वह भी परमार्थसत् नहीं, जैसा कि पहले (9/86, 87) विचार कर चुके हैं ॥97॥

इस प्रकार, (मन, इन्द्रिय और अर्थ का परस्पर) संसर्ग संभव नहीं, फिर वेदना उत्पन्न हो तो कैसे ? (और जब वेदना ही नहीं रही तो) यह दौड़-धूप किस लिए ? (यहाँ) बाधा ही किसे किससे हो सकती है ? ॥98॥

जब न वेदना है और न कोई वेदयिता तब हे तृष्णे ! (तू) इस अवस्था को देखकर क्यों नहीं छिन्न-छिन्न हो जाती ? ॥99॥

स्वभाव में स्वप्न और माया के समान (अपरमार्थ सत्) चित्त (जब चक्षु के प्रत्यय से उत्पन्न होता है तब देखता है (जब काय के प्रत्यय से उत्पन्न होता है तब) छूता है और वेदना उसी के साथ उत्पन्न होती है, इसलिए (वह अलग से अनुभूत होती हुई) नहीं दिखाई देती है ॥ ॥100॥

जो पश्चात् उत्पन्न हुआ है, वह पूर्व उत्पन्न हुए का अनुभव नहीं कर सकता, स्मरण कर सकता है (क्योंकि अनुभव उन्हीं का परस्पर संभव है, जो समान काल में हों) । स्वयं से स्वसंवेदन होना संभव नहीं (द्रष्टव्य (9/17-25) और पर से (अपर का भी) अनुभव हो नहीं सकता ॥101॥

इसलिए परमार्थ में न तो कोई वेदयिता है और न वेदना । इस निरात्मक प्रपंच में उससे पीड़ा किसे ? ॥102॥

मन न इन्द्रियों में है, न रूप आदि (विषयों) में है और न दोनों के बीच स्थित है । मन न भीतर है, न बाहर है और न (इन सबसे अलग कहीं) दूसरे ही स्थान पर है ॥103॥

जो न काया में है, न (काया से बाहर कहीं) दूसरे स्थान में है, न दोनों में है और न (दोनों से) पृथक् कहीं पर है, वह कोई (वस्तुसत् पदार्थ) नहीं है । इसलिए प्राणी स्वभाव से ही परिनिर्वृत है ॥104॥

ज्ञान, यदि ज्ञेय से पूर्व हो तो (ज्ञेय से संबद्ध न होने के कारण, उसे) किसके आधार पर (ज्ञान कहना) संभव होगा ? ज्ञान और ज्ञेय यदि युगपत् हों तो (उनका कार्य-कारण भाव संबन्ध नहीं हो सकता क्योंकि सदा कारण पहले और कार्य बाद में देखा जाता है । फिर) उस (ज्ञान) को किसके आधार पर (ज्ञान कहना) संभव होगा ? ॥105॥

यदि ज्ञान, ज्ञेय के पश्चात् हो तो (ज्ञान के काल में ज्ञेय के निरुद्ध हो जाने के कारण उसकी) उत्पत्ति कैसे ? इस प्रकार, (ज्ञान की उत्पत्ति की भाँति) सभी धर्मों की उत्पत्ति का कुछ ठौर-ठिकाना नहीं है ॥106॥

संवृति-सत्य की भ्रममात्रता

इस प्रकार, यदि संवृति नहीं तो दो सत्य कैसे ? उसकी सिद्धि, यदि दूसरे की संवृति से हो तो जीव मुक्त कैसे ? (क्योंकि मुक्त भी किसी न किसी की संवृति का विषय बन ही जाता है ।) ॥107॥

वह (मुक्त जीव) दूसरे के मन की कल्पना में आता है पर स्वयं अपनी संवृति (कल्पना) में नहीं आता । वह (धर्म, जो कारण से उत्पन्न होता है, सदा) नियमपूर्वक पीछे होता है । वह यदि हो, तो संवृति होती है । यदि न हो, तो संवृति नहीं होती (भाव यह, कि जहाँ कार्य-कारण भाव होता है, वहीं संवृति होती है । जहाँ कार्य-कारण भाव नहीं, वहाँ संवृति भी नहीं होती ।) ॥108॥

दोनों, कल्पना और उससे कल्पित (पदार्थों) का अन्योन्याश्रय भाव होता है और यह सब विचार लोक-व्यवहार का सहारा लेकर किया जाता है ॥109॥

विचारित-विचार के द्वारा, जब विचार किया जाता है, तब उस (साधनभूत) विचार का भी (फिर) विचार हो सकता है एवं पुनः पुनः विचारित विचारों का पुनः पुनः विचार होने से) अनवस्था (-दोष) होगा ॥110॥

विचार्य अर्थात् विचार के विषयभूत सब धर्मों का जब विचार कर लिया जाता है तब विचार का आश्रय ही नहीं रह जाता । फिर आश्रयहीन होने के कारण उसका प्रादुर्भाव (भी) नहीं होता और वह (विचार या विकल्प का अभाव ही) निर्वाण कहलाता है ॥111॥

जिसके मत में, ये (विकल्प तथा विकल्पित विषय) दोनों ही सत्य हैं, वही दुर्दशा में है (क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय, जो दोनों वस्तुतः कल्पित हैं, उन्हें वह सत्य सिद्ध करना चाहेगा, जो कि संभव नहीं। और संभव हो तो कैसे ?) ॥112॥

यदि, (ज्ञेय) पदार्थ का कारण ज्ञान हो, तो ज्ञान का अस्तित्व किस पर निर्भर रहेगा ? और यदि, ज्ञान का कारण ज्ञेय हो, तो ज्ञेय का अस्तित्व किस पर रहेगा ? यदि, दोनों का अस्तित्व एक दूसरे पर हो, तो (उसके असंभव होने के कारण) दोनों का अभाव मानना होगा [जैसा कि पिता-पुत्र के दृष्टान्त से स्पष्ट है।] ॥113॥

यदि, पुत्र के बिना पिता न हो तो (पिता के अभाव में) पुत्र हो ही कैसे सकेगा ? और जब पुत्र नहीं तो पिता भी नहीं। इस प्रकार, (सिद्ध हुआ कि परमार्थ में) दोनों ही नहीं हैं ॥114॥

(जैसे) अंकुर की उत्पत्ति बीज से होती है और उस (अंकुर) से ही बीज के होने का पता चलता है (वैसे ही) ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञेय से होती है (और उसी से) उस (ज्ञेय) की सत्ता जानी जाती है। (ऐसा) क्यों नहीं (मान लेते) ? ॥115॥

बीज का पता (अंकुर से नहीं, चलता प्रत्युत उस) अंकुर से अतिरिक्त दूसरे ज्ञान से चलता है (जिसने कि जान रक्खा है कि बीज होने पर अंकुर होता है) पर ज्ञान की सत्ता किससे जानी गयी, जो उससे ज्ञेय की प्रतीति मान ली जाये ॥116॥

अजातिवाद के प्रतिपक्षी स्वभाववाद पर विचार

सभी लोग प्रत्यक्ष ही (नाना प्रकार के कार्यों के) नाना प्रकार हेतु देखते हैं, जिसका जो कारण होता है, उसकी उससे उत्पत्ति प्रत्यक्ष ही देखी जाती है, आम के बीज से आम की ही और नीम के बीज से

नीम की ही उत्पत्ति सब देखते हैं। हेतु के भेद के कारण ही कमल और नाल आदि में भेद रहता है—वे एक जैसे नहीं होते ॥117॥

[चार्वाक] हेतु-भेद का कारण क्या है ?

[माध्यमिक] (पर परहेतु-भेद के प्रति) पूर्व (पूर्व) हेतु-भेद कारण है।

[चार्वाक] (कोई) हेतु (विशेष प्रकार का) फल क्यों देता है ?
[माध्यमिक] (अपने से) पूर्ववर्ती हेतु के प्रभाव से (परवर्ती हेतु फल दिया करता है।) ॥118॥

अजातिवाद के प्रतिपक्षी ईश्वरवाद की आलोचना

जगत् का हेतु ईश्वर है। बोलो ईश्वर क्या है ? यदि, भूत (पृथिवी, आपस्, तेजस्, वायु) ईश्वर हैं तो हों (उन्हें हम भी कारण मान लेते हैं पर ईश्वर-) नाम भर (सिद्ध करने के लिए) क्यों श्रम करते हो (ईश्वर नाम न लेकर सीधे ही भूतों को क्यों नहीं हेतु मान लेते ?) ॥119॥

पर (इतनी बात और अधिक कह देने की है कि जैसा तुम्हारे मत में ईश्वर हैं, वैसा कोई महाभूत नहीं क्योंकि) पृथिवी आदि (महाभूत) अनेक हैं, ईश्वर एक है। पृथिवी आदि महाभूत अनित्य हैं, ईश्वर नित्य है। पृथिवी आदि महाभूत अचेतन हैं, ईश्वर सचेतन है। पृथिवी आदि महाभूत देवता नहीं हैं, ईश्वर देवता है। पृथिवी आदि महाभूत लंघ्य हैं, ईश्वर अलंघ्य है। पृथिवी आदि महाभूत अशुचि हैं, ईश्वर शुचि है ॥120॥

आकाश ईश्वर हो नहीं सकता क्योंकि वह अचेतन है। आत्मा (भी ईश्वर) नहीं क्योंकि उसका पहले (9/69-70) निराकरण कर चुके हैं। (यदि, कहो कि ईश्वर अचिन्त्य है, उसका स्वरूप 'इदमित्थं'

रूप से नहीं बताया जा सकता तो उस) अचिन्त्य का कर्तृत्व भी अचिन्त्य हुआ, उसकी चर्चा ही क्यों चलाते हो ? ॥121॥

वह (ईश्वर) किसकी सृष्टि करना चाहता है ? यदि, आत्मा की (तो ठीक नहीं क्योंकि) वह नित्य है । (परमाणुरूप) पृथिवी आदि का स्वभाव तथा (स्वयं) ईश्वर भी नित्य है, (अतः वह न तो पृथिवी आदि की ही सृष्टि कर सकता है और न अपनी ही) । ज्ञान ज्ञेय से उत्पन्न होता है और अनादि है ॥122॥

(रहे आदिमान्) सुख और दुःख (वे) कर्म से होते हैं । बोलो, (अब बची) कौन सी (वस्तु जिसे) उसने बनाया ? यदि, हेतु (=ईश्वर) अनादि है तो (उस हेतु का) कार्य सादि कैसे होगा ? ॥123॥

(पर वह) क्यों सदा (कार्य) नहीं करता ? उसे दूसरा (मददगार तो) चाहिए ही नहीं (जो उसके न होने से वह बैठा है, कार्य नहीं करता) । (दुनिया में) ऐसा कोई है नहीं, जिसे उसने न बनाया हो, इसलिए उसे अपेक्षा हो ही किसकी सकती है ? ॥124॥

यदि, (ईश्वर को सृष्टि के लिए) सामग्री की अपेक्षा हो तो फिर ईश्वर (सृष्टि का) हेतु न हुआ (सामग्री ही हेतु बन गई) । (ईश्वर) सामग्री बनाने में समर्थ हो (तो हो पर) बना नहीं सकता क्योंकि (सामग्री बनाने के लिए भी तो सामग्री चाहिए पर) वह है नहीं ॥125॥

यदि, ईश्वर बिना इच्छा के (सृष्टि) करता है तो वह पराधीन है । यदि, (अपनी) इच्छा से (सृष्टि) करता है तो इच्छाधीन है । (इस प्रकार सृष्टि) करते हुए उसकी ईश्वरता कैसे ? ॥126॥

अजातिवाद के प्रतिपक्षी परमाणुवाद की आलोचना

जो (मीमांसक आदि) नित्य परमाणुओं (के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति) को मानते हैं, उनका पहले (9/86-87) निराकरण किया जा चुका है ।

अजातिवाद के प्रतिपक्षी सांख्य-सम्मत प्रकृतिवाद की आलोचना

सांख्य (मत के अनुयायी) नित्य प्रधान अर्थात् प्रकृति को जगत् का कारण मानते हैं ॥127॥

साम्यावस्था में स्थित सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों को प्रधान या प्रकृति कहते हैं । वैषम्यावस्था में (स्थित उन्हीं गुणों को) जगत् कहते हैं ॥128॥

एक (प्रकृति) के तीन स्वभाव होना असंगत हैं, इसलिए वह (परमार्थ-) सत् नहीं । इसी प्रकार, गुण भी (परमार्थ-) सत् नहीं क्योंकि (उनका भी स्वभाव) तीन प्रकार का है ॥129॥

गुणों के (परमार्थ-) सत् न होने के कारण (उनसे उत्पन्न) शब्दादि का (परमार्थ-) सत् होना बहुत ही दूर की बात है । [किं च त्रिगुणात्मक सर्ग सुख-दुःख मोहात्मक है—यह सांख्यों की मान्यता भी ठीक नहीं, क्योंकि] अचेतन वस्त्र आदि में सुख आदि का होना भी असंभव है ॥130॥

यदि, (कहो कि) भाव अर्थात् पदार्थ, उन (सुखादि के) हेतु हैं (तो ठीक नहीं) क्योंकि उनका विचार कर चुके हैं (वे न अवयवि रूप हैं [9/81-82], न परमाणुरूप हैं [9/86-87], न त्रिगुणात्मक हैं [9/128-129]; वे असत् हैं फिर कारण किसके बनेंगे) । तुम्हारे (मत में सत्त्व, रजस्, तमस् ही सुख, दुःख, मोह हैं और उन्हीं से सर्ग होता है, अतः) सुखादि ही (सब कार्य-जगत् के) कारण हैं, इसलिए वस्त्र आदि (परमार्थ में) असत् हैं ॥131॥

वस्त्र आदि से सुख आदि होता है और वे असत् हैं, अतः सुखादि (भी) असत् हुए । [किं च सत्त्व, रजस् और तमस् गुण वाले होने से सुखादि तुम्हारे मत में नित्य हैं, पर यह बात सर्वथा है उलटी,

क्योंकि] सुखादि कभी नित्य नहीं उपलब्ध होते (प्रत्युत नश्वर और क्षणभंगुर देखे जाते हैं) ॥132॥

(यदि सुखादि नित्य होते तो एक बार, जब) सुख का उदय होता (तब से निरंतर उसका) संवेदन (बना रहता, पर) होता नहीं, यह क्यों ?

[सांख्यवादी का समाधान] (व्यंजक सामग्री के अभाव के कारण) वह सूक्ष्म हो जाता है (इसलिए संवेदन बना नहीं रहता) ।

[माध्यमिक का आक्षेप] वह (एक ही वस्तु) स्थूल और सूक्ष्म कैसे ? ॥133॥

स्थूलता छोड़ कर (सुख आदि की) सूक्ष्मता होती है (यदि, ऐसा मनते हो तो) स्थूलता और सूक्ष्मता तो अनित्य हैं (एवं जब कुछ को अनित्य मान लिया तब) उसी प्रकार, (अपने) सब तत्त्वों को क्यों नहीं अनित्य मान लेते ? ॥134॥

(यदि, यह मानो कि) स्थूलता सुख से अभिन्न है (तो जैसे स्थूलता की अनित्यता स्पष्ट है, वैसे ही) सुख की अनित्यता भी स्पष्ट (सिद्ध) हो गई । (यदि यह मानो कि) किसी असत् (पदार्थ) की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि वह है नहीं (तो ठीक नहीं, क्योंकि) ॥135॥

तुम्हारे मत में बिना चाहे भी (उस) व्यक्त-जगत् की उत्पत्ति होती है, (जो अव्यक्तावस्था में) असत् होता है । यदि, हेतु में फल को स्थित मानो तो अन्नभक्षी को मलभक्षी कहना होगा ॥136॥

तथा कपड़े के दाम से कपास के बीजों को खरीद कर पहनना होगा । (यदि, यह कहो कि) लोग मोहवश तत्त्व नहीं देखते (इसीलिए कोई ऐसा नहीं कहता, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि) तत्त्वज्ञानी की भी वही दशा है, (वह भी पहनने के लिए कपड़ा खरीदता है, कपास के बीज नहीं) ॥137॥

(तत्त्वज्ञ की भाँति) संसारी को भी उस (कार्यकारणभाव) का ज्ञान है, पर वह क्यों (कारण के भीतर कार्य की सत्ता) नहीं देखता ? यदि, संसारी को प्रमाण न मानो तो (इस) व्यक्तदर्शन अर्थात् दृश्यमान संसार को भी (परमार्थ में) असत् मानना होगा (फिर हम बौद्ध और तुम सांख्य एक ही हो गये । हम भी तत्त्व-चर्चा में लौकिक-व्यवहार संमत प्रमाणों को नहीं मानते) ॥138॥

[सांख्य] यदि, प्रमाण को प्रमाण न मानो तो उससे प्रमित (पदार्थ) को भ्रान्त मानना होगा और इसलिए भावों [=पदार्थों] की शून्यता [जो कि प्रमाण से सिद्ध की जाती है] परमार्थतः सिद्ध न हो सकेगी । ॥139॥

[माध्यमिक] भाव की कल्पना न करने पर अभाव पकड़ में नहीं आता । इसलिए जो भाव मिथ्या [सिद्ध] है, उसका अभाव स्पष्ट ही मिथ्या है । ॥140॥

अतएव स्वप्न में पुत्र के नष्ट होने पर, उसके न होने की कल्पना उसके होने की कल्पना को रोकती है और [अपने आपको भी] मृषा [सिद्ध करती] है ॥141॥

इस प्रकार, विचार करने से [स्पष्ट है कि] अहेतु अर्थात् स्वभाव, महेश्वर, प्रकृति, परमाणु आदि से कुद्व नहीं [उत्पन्न] होता ।

अजातिवाद के प्रतिपक्षी हेतुवाद की आलोचना

[कार्य] व्यस्त [अर्थात् स्व अथवा पर] और समस्त [अर्थात् दोनों स्व एवं पर] प्रत्ययों [=कारणों] पर निर्भर नहीं है [क्यों निर्भर नहीं है ? इसका स्पष्टीकरण यों है— ॥142॥

[1] कार्य अपने आप से उत्पन्न नहीं होता क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व उसकी सत्ता नहीं होती, फिर अपने आप से उत्पन्न हो तो कैसे ?

[2] कार्य अपने से पर-पदार्थ द्वारा भी उत्पन्न नहीं होता । यदि, कोई अपने से भिन्न पदार्थ द्वारा उत्पन्न होता हो तो सभी की सबसे उत्पत्ति हो जाती ! कोदों से धान भी उग आते !

[3] कार्य दोनों से—अपने आप तथा अपने से भिन्न पदार्थ द्वारा भी उत्पन्न नहीं होता क्योंकि दोनों आपत्तियाँ [जो ऊपर दी गई हैं] माथे आ पड़ेंगी ।]

[पर त्रैकाल्यवादियों का कहना है कि हेतु-प्रत्यय के द्वारा पदार्थ अनागत से वर्तमान में और वर्तमान से अतीत में चला जाता है । इस काल-परिवर्तन का नाम ही उत्पाद, स्थिति और भंग है । वस्तुतः पदार्थ सदा रहता है—वह परमार्थसत् ही है । यह मत ठीक नहीं । क्योंकि-] (पदार्थ) किसी दूसरी जगह से न आता है, न ठहरता है न [कहीं अन्यत्र] चला जाता है [क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह नित्य होता पर तुम्हारे मत में, जो सत् है, वह क्षणिक ही है, नित्य नहीं] । मूढ़ों ने जिसे परमार्थ सत् मान रखा है, उसकी माया से कुछ भी भिन्नता नहीं है ॥143॥

जिसका निर्माण माया से हुआ है, तथा जिसका निर्माण हेतुओं से हुआ है, वह कहाँ से आता है और कहाँ जाता है, इस पर विचार करना चाहिए ॥144॥

जो दूसरे के सामीप्य में दिखाई पड़ता है, अभाव में दिखाई नहीं पड़ता, वह प्रतिबिम्ब जैसा है [प्रतिबिम्ब दर्पण हो तो दिखाई पड़ता है, न हो तो दिखाई नहीं पड़ता] उसमें सत्यता कहाँ ? ॥145॥

यदि, पदार्थ सत् हो तो उसका हेतु से क्या प्रयोजन ? और यदि, असत् है तो भी उसका हेतु से क्या प्रयोजन ? ॥146॥

शतकोटि हेतुओं से भी असत् में विकार नहीं होता । फिर वैसा का वैसा (=बिना विकृत हुए) वह कैसे सत् हो सकता है ? अथवा जो सत् होता है, वह (असत् से) अन्य कौन है ? ॥147॥

असत् के समय सत् यदि, होता नहीं तो सत् होता कब है ? सत् यदि उत्पन्न न हो तो असत् का नाश नहीं होता ॥148॥

और असत् यदि, दूर न हो, तो सत् के होने का अवसर नहीं । (किं च) सत् (कभी) असत् होता नहीं (यदि, हो तो उसमें) दो (परस्पर विरोधी) स्वभाव मानने होंगे, (पर परस्पर विरोधी अग्नि-जल के समान एकत्र रह नहीं सकते) ॥149॥

सदा इस प्रकार, न तो सता है और न विनाश । अतएव सब जगत् अजात है, अनिरुद्ध है ॥150॥

गतियाँ (—सुगति, दुर्गति आदि) विचार करने पर स्वप्नवत् हैं, कदली (-स्तम्भ) वत् (निःसार) हैं । परमार्थ में बद्ध और मुक्त में (कोई) भेद नहीं ॥151॥

शून्यवाद का उपसंहार

इस प्रकार, पदार्थ शून्य हैं । (उनसे) क्या मिलना ? क्या जाना ? किसका किससे आदर या तिरस्कार ? ॥152॥

सुख या दुःख किससे ? क्या प्रिय ? क्या अप्रिय ? खोजने पर स्वभाव से तृष्णा कहाँ ? (और) तृष्णा कैसी ? ॥153॥

विचार करने पर जीवलोक क्या ? यहाँ मरण ही किसका ? कौन होगा ? कौन हुआ ? कौन किसका बन्धु ? कौन किसका मित्र ? ॥154॥

सब जगत् को आकाशवत् (शून्य) समझना चाहिए (पर) मेरे जैसे (लोग समझते नहीं और) उत्सव का कारण हो तो हर्ष मनाते हैं, कलह का कारण हो तो क्रोध करते हैं ॥155॥

शोक, श्रम और विषाद से परस्पर मारामारी-काटाकाटी करते, पाप कमाते, सुख की इच्छा रख कर भी दुःख से (दिन) बिताते हैं ॥156॥

बार-बार सुगति पाकर और बार-बार सुख भोग कर (पापवश प्राणी) मर कर दीर्घ (-कालिक) तीव्र व्यथा वाले नरकों में गिरते हैं ॥157॥

अतत्त्व अर्थात् मोह ऐसा (पदार्थ है कि) भव (संसार) में बहुत बार गिरना पड़ता है और वहाँ (भी) परस्पर का विरोध (=लड़ाई-झगड़ा) रहता है। तत्त्व ऐसा (पदार्थ है कि जहाँ यह सब) नहीं हो सकता ॥158॥

(वहाँ भव में) तीव्र दुःख के अनन्त समुद्र हैं, जिनकी उपमा (कहीं) नहीं। [इतना ही नहीं] उस पर इस प्रकार की अल्पबलता, उस पर भी आयु की अल्पता— ॥159॥

उस पर भी जीने के लिए काम, रोग दूर करने के लिए दौड़-धूप, भूख, थकावट, श्रम, निद्रा, उपद्रव तथा निष्फल मूढसंसर्ग रहता है, ॥160॥

अतः झटपट आयु बीत जाती है और विवेक दुर्लभ रहता है। उस पर भी (काम और मन को, जो चंचलता का अभ्यास हो जाता है, वह किसी तरह रुकता नहीं ॥161॥

उस पर भी मार महानरकों में गिराने का जतन करता ही रहता है। उस पर अनेक असत्-पन्थों के प्रचलन के कारण (सद्धर्म के विषय में) संदेह (बना रहता है, उसे) जीतना कठिन होता है ॥162॥

उस पर भी क्षण (-संपत्ति) दुर्लभ है, बुद्ध की उत्पत्ति तो और भी दुर्लभ है। और क्लेशों की बाढ़ रोके रुकती नहीं। हन्त ! (यह कैसी) दुःख की परम्परा है? ॥163॥

हन्त ! दुःख की बाढ़ में पड़े, ये (प्राणी) अत्यन्त शोचनीय है, जो इस प्रकार अत्यन्त दुर्गत होते हुए भी अपनी दुर्गति नहीं देखते ॥164॥

स्नान कर-कर के जैसे कोई आग में बार-बार घुसे वैसे ही अत्यन्त दुःखित लोग अपने को सुखित मानते हैं ॥165॥

एवं अजर और अमरों की भाँति विलास करने वाले (प्राणियों के सामने) मृत्यु को मुखिया बनाकर घोर आपत्तियाँ आने वाली हैं (पर उन्हें कुछ चिन्ता नहीं) ॥166॥

इस प्रकार, दुःख की आग से तपे प्राणियों को मैं पुण्य-मेघ से उत्पन्न सुखसाधन (-जल) से कब शीतल करूँगा ! ॥167॥

(मैं) व्यवहार में त्रिकोटि परिशुद्ध के द्वारा आदर के साथ पुण्यसंभार की, (तथा) शून्यता की देशना कब (उन प्राणियों) को दूँगा, जो उपलंभ-दृष्टि पकड़े हुए हैं ॥168॥

दशम परिच्छेद परिणामना

बोधिचर्यावतार का चिंतन करते हुए, जो मुझे पुण्य हुआ है, उससे सब लोग बोधिचर्या-विभूषण हों ॥1॥

सब दिशाओं में, जितने (लोग) शरीर और मन की व्यथा से व्याकुल हैं, वे मेरे पुण्यों से सुख-प्रमोद के समुद्रों को प्राप्त करें ॥2॥

जब तक (उनका) आवागमन है, तब तक उनके सुख की हानि कभी न हो। जगत् को निरन्तर बोधिसत्त्व सुख प्राप्त हो ॥3॥

लोक-धातुओं में, जितने नरक विद्यमान हैं, उनके प्राणी सुखावती के सुखामोद से प्रमुदित हों ॥4॥

शीत से दुःखी गरमी पाएँ। गरमी से दुःखी बोधिसत्त्वरूपी महामेघों में उत्पन्न जल के समुद्रों से शीतल हों ॥5॥

उनके लिए असिपत्र-वन, नन्दन वन के समान हों और कूट शाल्मलि-वृक्ष, कल्पवृक्ष हों ॥6॥

नरकों के प्रदेश कादंब, कारंडव, चक्रवाक, हंस आदि के कोलाहल से सुशोभित कमलों की उत्कट सुगंध वाले सरोवरों से मनोहर हों ॥7॥

वह अंगार राशि, मणिराशि हो। तपी हुई भूमि स्फटिक कुट्टिम हो। और संघात नरक के पर्वत बुद्धाधिष्ठित पूजाविमान हों ॥8॥

अंगार, जलते पत्थर और शस्त्रों की वर्षा, आज से पुष्पवर्षा हो और आपस का, वह शस्त्रयुद्ध आज से क्रीडा के लिए पुष्पयुद्ध हो ॥9॥

अग्नि के समान दहकते जल वाली वैतरणी में डूबे हुए, सबका सब मांस गिर जाने से कुन्द के समान (श्वेत) वर्ण की हड्डियों के ढाँचे वाले, (प्राणी) मेरे पुण्य बल से दिव्य शरीर पाकर सुरांगनाओं के साथ मंदाकिनी में विहार करें ॥10॥

भयंकर यमदूत, काक और गृध्र भयभीत हो, अकस्मात् देखें कि चारों ओर का अंधेरा क्यों नष्ट हो गया [और] सुख-प्रीति उत्पन्न करने वाली, यह सौम्य प्रभा किसकी है ? इस प्रकार, ऊपर आकाश-तल को निहारते हुए, तेजस्वी वज्रपाणि [बोधिसत्त्व] को देख, मुदिता के वेग से निष्पाप हो, उनके साथ ही विचरण करें ॥11॥

सुगंधित जल के साथ कमलों की वर्षा हो रही है [और] दहकती नरक की आग को बुझाती दिखाई पड़ती है । यह क्या ? सुख से [तन-मन सब] किस कारण आह्लादित हो गए ? यों [तर्क-वितर्क करते] नारकीयों को कमलपाणि [बोधिसत्त्व] का दर्शन हो ॥12॥

आओ ! शीघ्र आओ ! भय दूर करो ! भाइयों, जान बच गयी ! हमारे लिए कोई यह चीरधारी, अभयकारी, तेजस्वी कुमार आ पहुँचा है, जिसके प्रताप से सब दुःख चला गया, प्रीति-वेग बहने लगा, संबोधि-चित्त उत्पन्न हुआ और सब प्राणियों को त्राण देने वाली दया माता ने जन्म लिया ॥13॥

स्तुतियों से मुखरित सुरांगनाओं के सहस्र-सहस्र गीतों से युक्त कूटागारों के साथ मंजुघोष बोधिसत्त्व को [अपने] आगे देख नारकीयों में यों कलकल हो—आप [सब] इन्हें देखिए, इनके चरण-कमल देवताओं के शत-शत मुकुटों से पूजित हो रहे हैं, इनके सिर पर नानाविध पुष्प-समूहों की वर्षा हो रही है, इनकी आँखें करुणा से आर्द्र हैं ॥14॥

इस प्रकार, मेरे पुण्यों से सुखद, शीतल, सुगंधित पवन के साथ बरसने वाले, [क्लेशादि के] आवरण से हीन, समंतभद्र प्रमुख बोधिसत्त्वमेघों को देख नारकीय लोक अभिनन्दन करें ॥15॥

नारकीयों की दारुण वेदनाएँ शांत हो, भय दूर हो । दुर्गतियों में फँसे सब [प्राणी] दुर्गतियों से छूट जायें ॥16॥

पशु-पक्षियों का परस्पर के भक्षण कर लेने का भय दूर हो । प्रेत उत्तर कुरु के मनुष्यों की भाँति सुखी हों ॥17॥

आर्य अवलोकितेश्वर के हाथों से छोड़ी गयी दूध की धाराओं से प्रेत सदा तृप्त हों, स्नान करें, शीतल हों ॥18॥

सदा अंधे, रूप देखें, बहरे सुनें, माया देवी की भाँति बिना व्यथा के गर्भवती [स्त्रियाँ] प्रसव कर ॥19॥

वस्त्र, भोजन, पेय, माला, चन्दन, आभूषण [तथा] हितकर सब मनोरथों का [सबकों] सुलाभ हो ॥20॥

भीत निर्भय हों, शोक पीड़ित आनंदलाभी हों, व्याकुल निराकुल एवं धृतिमान् हो ॥21॥

रोगी नीरोग हों । [सभी] सब बन्धनों से मुक्त हों । दुर्बल बलवान हों और मन से एक दूसरे के प्रेमी हों ॥22॥

सब राहियों के लिए सब दिशाएँ मंगलमय हों, (जो) जिस कार्य से जाते हैं, (उनका) वह (कार्य) उपाय से सिद्ध हो ॥23॥

जहाज से यात्रा करने वालों के मनोरथ सिद्ध हों । (वे) कुशल से तीर बाकर बन्धुओं के साथ विहार करें ॥24॥

कान्तार में फँसे और राह भटके (लोगों) को काफिले का साथ मिले और वे चोर व्याघ्र आदि के भय से रहित हो बिना श्रम जायें ॥25॥

मार्गहीन जंगल आदि के संकट में सोए हुआ, माते हुआ, पवालों, अनार्थों, और बालवृद्धों की देवता रक्षा करें ॥26॥

(सभी) सब अक्षणों से विनिर्मुक्त, श्रद्धा, प्रज्ञा और कृपा से युक्त, रूप शील-सम्पन्न हो सदा (पूर्व-) जन्मों के स्मरणकारी हों ॥27॥

आकाश-व्यापक कोष की भाँति (सबका) कोष अक्षय हो । (सभी) द्वन्द्वरहित, क्लेशरहित हों । (सबकी) वृत्ति (=जीविका) अपने अधीन हो ॥28॥

जो प्राणी अल्प ओजस्वी हैं, वे महान् ओजस्वी हों । जो विचारे कुरूप हैं, वे सुन्दर हों ॥29॥

लोक में, जितनी स्त्रियाँ हैं, वे पुरुष हो जायें । नीच (=पापी) उस (स्त्रीयोनि) को प्राप्त हों तथा मानरहित हों ॥30॥

इस मेरे पुण्य से सब प्राणी सब पापों से विरत होकर पुण्य करें । ॥31॥

वे सब प्राणी बोधिचित्त से (कभी) हीन न हों, बोधि-चर्या में रमे रहें, उन पर बुद्धों का अनुग्रह हो, वे मारकर्म (=पापकर्म) से दूर हों ॥32॥

उनकी आयु अपार हो, वे नित्य सुख से जीवित रहें और मृत्यु का शब्द तक नष्ट हो जायें ॥33॥

सब दिशाएं बुद्ध और बोधिसत्त्वों से व्याप्त, धर्मध्वनि से मनोहर, कल्पवृक्षों के उपवनों से रमणीय हों ॥34॥

रोड़े आदि से रहित, हथेली के समान बराबर, कोमल और वेदूर्यमयी भूमि सर्वत्र हो ॥35॥

बोधिसत्त्व-महापरिषद् की मंडलियाँ सब और बैठें और अपनी शोभा से भूतल को अलंकृत करें ॥36॥

सब देहधारियों को पक्षियों से, सब वृक्षों से, किरणों से और आकाश से भी धर्मध्वनि निरन्तर सुनाई पड़े ॥37॥

उन्हें बुद्ध और बोधिसत्त्वों का नित्य समागम प्राप्त हो और वे अनन्त पूजामेघों से जगद्गुरु की पूजा करें ॥38॥

समय पर देव बरसे । खेती संपन्न हो । लोग समृद्ध हों । राजा धार्मिक हो । (शक्ता भवन्तु चौषध्यो मन्त्राः सिद्धयन्तु जाषिनां) ॥39॥

औषधियों में प्रभाव हो । जप करने वालों के मंत्र सिद्ध हों । डाकिनी, राक्षस आदि करुणारत हों ॥40॥

कोई प्राणी न दुःखी हों, न पापी हों, न रोगी हो, न हीन हो, न तिरस्कृत हो और न दुष्टचित्त हो ॥41॥

विहार पाठ और स्वाध्याय से व्याप्त, शोभनावस्था में रहें । संघभेद कभी न हो और संघ कार्य सिद्ध हो ॥42॥

भिक्षु विवेकलाभी और शिक्षार्थी हों, सब विक्षेपों से रहित हों, कर्मण्य चित्त होकर ध्यान करें ॥43॥

भिक्षुणियों में कलह न हो, क्लेश न हो । (वे) लाभिनी हो तथा सभी प्रव्रजितों का शील खंडित न हो ॥44॥

दुःशीलों में संवेग हो, वे सदा पाप-क्षय करने में रत हों और अखंडित-व्रती सुगति का लाभ करें ॥45॥

पंडितों का सत्कार हो । (वे) लाभी हों । (उन्हें) पिंडपात मिले । (उनका) जीवन-प्रवाह पवित्र हो । सब दिशाओं में (उनकी) कीर्ति फैले ॥46॥

दूर्गति का दुःख बिना भोगे, दुष्करचर्या बिना किये, जगत् एक ही दिव्य-शरीर द्वारा बुद्धत्व प्राप्त करे ॥47॥

सब प्राणी सब संबुद्धों की अनेक प्रकार से पूजा करें और बोधि के अचिन्तनीय सुख से अत्यन्त सुखी हों ॥48॥

जगत् के हित बोधिसत्त्वों के मनोरथ सफल हों । वे प्रभु प्राणिहित, जो कुछ सोचें, वह संपन्न हो ॥49॥

गौरव के साथ देव, असुर और मनुष्यों से पूजित हों, प्रत्येक बुद्ध और अर्हत् सुखी हों ॥50॥

मंजुघोष के अनुग्रह से प्रमुदिता-भूमि तक मुझे (सदा पूर्व)—जन्मों का स्मरण रहे और प्रव्रज्या प्राप्त हो ॥51॥

(मैं) सबल रहूँ, जिस किसी भोजन से मेरा निर्वाह होता रहे, और सब जन्मों में मुझे पूर्ण विवेकवास प्राप्त हो ॥52॥

जब मुझे देखने या कुछ पूछने की इच्छा हो तो उन प्रभु मंजुनाथ को बिना विघ्न-बाधा के देखूँ ॥53॥

दश दिशाओं के आकाश के अन्त तक अखिल प्राणियों का हित-साधन करने में, जैसी चर्या मंजुश्री की होती है, वहीं चर्या मेरी हो ॥54॥

जब तक आकाश की स्थिति रहे, जब तक जगत् की स्थिति रहे, तब तक जगत् का दुःख नाश करते हुए मेरी स्थिति रहे ॥55॥

जगत् का जो कुछ दुःख है, वह सब मैं भोगूँ और बोधिसत्त्व के सब पुण्यों से जगत् सुखी हो ॥56॥

जगत् के दुःखों का एकमात्र औषध, सब संपत्तियों और सुखों का आकर, (बुद्ध का) शासन लाभ और सत्कार के साथ चिर तक ठहरे ॥57॥

जिनकी कृपा से पुण्य में मति होती है, उन मंजुघोष को नमस्कार करता हूँ और जिनकी कृपा से (पुण्य की) वृद्धि होती है, उन कल्याणमित्र की वन्दना करता हूँ ॥58॥

॥ परिनिष्ठत ॥
